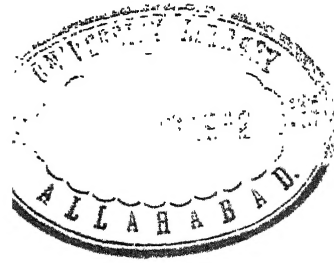
डा॰ राधाकृष्णन



पूर्व और पश्चिम

कुछ विचार



राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली

आमुख

'सर एडवर्ड बैटी स्मारक व्याख्यानमाला' की स्थापना डॉक्टर एच० ए० बैटी और मिस मेरी बैटी ने अपने भाई की स्मृति में की है तथा उन्होंने ही आवश्यक धनराशि का प्रबन्ध भी किया है। सर एडवर्ड बैटी ने १६२० से १६४३ ई० तक, जब इस वर्ष वसन्त में उनकी मृत्यु हुई, मैकगिल विश्वविद्यालय के कुलपति-पद का दायित्व सरलतापूर्वक वहन किया। वे बड़े कष्टसाध्य वर्ष थे। कनाडा में आर्थिक समृद्धि हुई, फिर मुद्रास्फीति। दूसरे विश्वयुद्ध का भी आरम्भ हुआ। क्रमशः चार कुलपतियों ने उनके नीचे काम किया तथा दो बार लम्बे समय तक उन्हें ही प्रशासनिक दायित्व भी वहन करना पड़ा। फलतः, संक्रान्ति के उन पचीस वर्षों में मैकगिल विश्वविद्यालय के विकास का अधिकांश श्रेय इस महान कनाडावासी की दूरदर्शिता और दृढ़ निश्चय को है। इस व्याख्यानमाला में उन्हींके नाम को स्थायित्व प्रदान किया गया है।

इस व्याख्यानमाला का उद्घाटन पूरे एक वर्ष तक स्थगित रखना पड़ा, ताकि डॉक्टर राधाकृष्णन प्रथम बैटी स्मारक व्याख्याता बनना स्वीकार कर सकें। उनके व्याख्यानों के प्रति, जिन्हें इस पुस्तक में प्रस्तुत किया जा रहा है, लोगों में कितनी रुचि थी, यह इसी बात से स्पष्ट है कि मांट्रियाल के तीन हज़ार से अधिक विद्यार्थी और नागरिक प्रतिरात्रि उन्हें सुनने आते थे। श्रोताओं की रुचि का एक और प्रमाण है। रेडपाथ हाल में इतने अधिक व्यक्तियों के लिए व्यवस्था नहीं है, इसलिए श्रोता सर आर्थर क्यूरी जिम्नाशियम-आर्मरी की सख्त कुर्सियों पर बैठकर सुनते रहे। यहां आवाज़ भी ठीक सुनाई नहीं देती थी। व्याख्यानमाला की समाप्ति पर वे देर तक हर्षध्वनि करते रहे।

एफ़० सिरिल जेम्स
प्रिंसिपल एवं उपकुलपति
मैकगिल विश्वविद्यालय

AST AND WEST : SOME REFLECTIONS

का हिन्दी अनुवाद

'बैटी स्मारक व्याख्यानमाला'

प्रथम माला

अनुवादक

रमेश वर्मा

मूल्य	:	पांच रुपये
प्रथम संस्करण	:	जनवरी, १६६२
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

आमुख

'सर एडवर्ड बैटी स्मारक व्याख्यानमाला' की स्थापना डॉक्टर एच० ए० बैटी और मिस मेरी बैटी ने अपने भाई की स्मृति में की है तथा उन्होंने ही आवश्यक धनराशि का प्रबन्ध भी किया है। सर एडवर्ड बैटी ने १९२० से १९४३ ई० तक, जब इस वर्ष वसन्त में उनकी मृत्यु हुई, मैकगिल विश्वविद्यालय के कुलपति-पद का दायित्व सरलतापूर्वक वहन किया। वे बड़े कष्टसाध्य वर्ष थे। कनाडा में आर्थिक समृद्धि हुई, फिर मुद्रास्फीति। दूसरे विश्वयुद्ध का भी आरम्भ हुआ। क्रमशः चार कुलपतियों ने उनके नीचे काम किया तथा दो बार लम्बे समय तक उन्हें ही प्रशासनिक दायित्व भी वहन करना पड़ा। फलतः, संक्रान्ति के उन पचीस वर्षों में मैकगिल विश्वविद्यालय के विकास का अधिकांश श्रेय इस महान कनाडावासी की दूरदर्शिता और दृढ़ निश्चय को है। इस व्याख्यानमाला में उन्हींके नाम को स्थायित्व प्रदान किया गया है।

इस व्याख्यानमाला का उद्‌घाटन पूरे एक वर्ष तक स्थगित रखना पड़ा, ताकि डॉक्टर राधाकृष्णन प्रथम बैटी स्मारक व्याख्याता बनना स्वीकार कर सकें। उनके व्याख्यानों के प्रति, जिन्हें इस पुस्तक में प्रस्तुत किया जा रहा है, लोगों में कितनी रुचि थी, यह इसी बात से स्पष्ट है कि मांट्रियाल के तीन हज़ार से अधिक विद्यार्थी और नागरिक प्रतिरात्रि उन्हें सुनने आते थे। श्रोताओं की रुचि का एक और प्रमाण है। रेडपाथ हाल में इतने अधिक व्यक्तियों के लिए व्यवस्था नहीं है, इसलिए श्रोता सर आर्थर क्यूरी जिम्नाशियम-आर्मरी की सख्त कुर्सियों पर बैठकर सुनते रहे। यहां आवाज़ भी ठीक सुनाई नहीं देती थी। व्याख्यानमाला की समाप्ति पर वे देर तक हर्षध्वनि करते रहे।

एफ़० सिरिल जेम्स
प्रिंसिपल एवं उपकुलपति
मैकगिल विश्वविद्यालय

दो शब्द

मैकगिल विश्वविद्यालय ने बैटी व्याख्यानमाला के उद्घाटन का आदेश देकर मुझे सम्मानित किया है। गत अक्तूबर मास में जो व्याख्यान मैंने मैकगिल में दिये थे, उन्हींकी विषयवस्तु प्रस्तुत पुस्तक में है। प्रथम व्याख्यान में भारतीय संस्कृति की मूल प्रवृत्ति का दर्शन है। दूसरा व्याख्यान पश्चिमी संस्कृति पर है तथा दो भागों में विभाजित है। पहले भाग में यूनान, मकदूनिया, रोम, मिस्र और ईसाई धर्म के आरम्भ का विवरण है और दूसरे भाग में ईसाई सिद्धान्त, इस्लाम, धर्मयुद्ध, पांडित्य-वाद, पुनर्जागरण, सुधार तथा प्राकृतिक विज्ञान एवं आधुनिक दर्शन के उदय का। तीसरे व्याख्यान में उन समस्याओं की व्याख्या है जिनसे आज पूर्व और पश्चिम दोनों परेशान हैं, तथा एक सृजनात्मक धर्म की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है।

तीन व्याख्यानों में इतिहास के लम्बे-लम्बे कालों का अध्ययन असंभव है। केवल कुछ प्रमुख अंगों को लिया जा सकता है। इनके चुनाव में भी व्यक्तिगत रुचि परिलक्षित होगी तथा व्याख्यान अनिवार्यतः सतही। इस व्याख्यानमाला का औचित्य केवल यही है। मैंने समय, स्थान और ज्ञान की सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए विषय का निरूपण अपने ढंग से किया है। मुझे आशा नहीं कि सभी मुझसे सह-मत होंगे, किन्तु यदि इनसे अन्य लोगों को विचार करने की प्रेरणा मिली तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

गत अक्तूबर मास में मैकगिल में मुझे अविस्मरणीय अनुभव हुए। इसका श्रेय प्रिंसिपल सिरिल जेम्स और श्रीमती ईरीन जेम्स को है। उन्होंने अत्यन्त सहृदयता से और लगभग श्रद्धापूर्वक मेरी सुविधाओं का ध्यान रखा था।

नई दिल्ली
२० मई, १९५५

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

प्रथम व्याख्यान

पूर्व

१. मस्तिष्क और आत्मा

एडवर्ड वेंटवर्थ बियटी के नाम पर इस व्याख्यानमाला की स्थापना की गयी है। आधुनिक कनाडा के निर्माण में उनका स्मरणीय योगदान है। उद्योग और शिक्षा, कानून और नागरिक जीवन जैसे कार्यक्षेत्रों पर उनके काम की छाप है। शिक्षा के क्षेत्र में उनका नेतृत्व हमारे लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। बीस साल से अधिक समय, १९२१ से १९४३, तक वे इस विश्वविद्यालय के चांसलर रहे।

उनकी इच्छा थी कि मैकगिल एक 'विश्वविद्यालय प्रसार आन्दोलन' का विकास करे; शायद उनकी इस इच्छा की पूर्ति के लिए और विश्वविद्यालय के प्रति उनकी सेवाओं के सम्मान में ही यह व्याख्यानमाला स्थापित की गयी है। मैकगिल शताब्दी समारोह के दौरान आयोजित 'आर्ट्स रियूनियन लंच' के अध्यक्षपद से, विश्वविद्यालय के चांसलर की हैसियत से अपने पहले भाषण में उन्होंने कहा था : "मैकगिल को···केवल कालेज की इमारतों के भीतर ही पढ़ाने को नहीं वरन् पहाड़ी से उतरकर सड़कों पर, उपनगरों और कस्बों में भी जाने को तैयार रहना चाहिए।"[1]

इस विश्वविद्यालय के स्नातकों के समक्ष २६ मई, १९३६ को दिए गए उनके भाषण की शब्दावली आज भी सार्थक है : "आप जिस संसार के उत्तराधिकारी हैं, उसमें तीखा वैमनस्य और उथल-पुथल हैं। हमने—आपके अग्रजों ने—आपके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया है।···विश्वयुद्ध के बाद की उन्मत्त अराजकता का कारण यही है कि मानव युद्ध से शिक्षा ग्रहण नहीं कर सका। उस घोर यंत्रणा से निकल आने पर हमारी आत्मा को परिशुद्ध हो जाना चाहिए था, किंतु ऐसा हुआ नहीं।"[2] उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बताया था 'आत्मा का रोग'।

---

१. डी० एच० मिलर-बारस्टो : 'बियटी ऑफ़ द सी० पी० आर०' (१९५१) पृष्ठ १४८।

२. वही, पृष्ठ ४-५।

"हमने उन आध्यात्मिक मूल्यों पर ध्यान देना लगभग बन्द कर दिया, जिनके द्वारा ही मानव की सम्पूर्ण प्रगति को आंका जा सकता है। इस युद्ध ने मानवता की प्रगति के सर्वोत्कृष्ट युग का अन्त कर दिया और युद्ध का कारण इतना ही था कि हम भौतिकता के प्रति अपनी लालसा को नियंत्रित करके अधिक ऊंचे न उठ सके। मुझे यह न बताइए कि युद्ध जर्मनों की विजय-लोलुपता या अंग्रेज़ों की साम्राज्यवादिता या फ्रांसीसी सांग्रामिकता या लाभ प्राप्त करने की पूंजीवादी लालसा के कुपरिणाम से अधिक कुछ न था। ब्रिटेन ने संसार को व्यवस्था और भौतिक सभ्यता प्रदान की। जर्मनी और फ्रांस ने कला और संगीत से संसार की शोभा बढ़ाई, विज्ञान और साहित्य से उसका कोष भरा। पूंजीवादियों को लाभ युद्ध के कारण मिला—वह स्वयं युद्ध का कारण नहीं था। हमें और गहराई में उतरना ही चाहिए। जिस पागलपन ने संसार को महायुद्ध के रक्तपात और विभीषिकाओं में डुबो दिया, वह आत्मा का विकार है—मस्तिष्क का नहीं।"[1] इन शब्दों के कहे जाने के बाद एक और विश्वयुद्ध हो चुका है, तथा हम भविष्य के प्रति आशंकित हैं।

बियटी के इस कथन, कि हमारी 'आत्मा में विकार है, मस्तिष्क में नहीं', का अर्थ यही है कि शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के स्वाभाविक सामंजस्य के निर्वाह से ही व्यक्ति और राष्ट्र सुखी हो सकते हैं; आज के युग में आध्यात्मिक मूल्यों को भुलाकर हम मस्तिष्क की उपलब्धियों पर अधिक ज़ोर देते हैं, और इसी कारण हम दुखी हैं। आत्मिक शक्तियां कम होती जा रही हैं तथा मस्तिष्क की उपलब्धियों का अनुपात भयोत्पादक सीमा तक पहुंच गया है। प्रत्यक्षतः हम पृथ्वी और आकाश को अपने अधिकार में किए हुए हैं, और परमाणु तथा तारों के रहस्यों को समझने लगे हैं, किन्तु आशंका से घिरे फिर भी हैं। कुछ ऐसा है जो हमसे छूट गया है। समकालीन विश्व-स्थिति मुझे एक अर्थमय कहानी की याद दिलाती है। ईसामसीह वीरान मैदानों से एक आबाद शहर में पहुंचे और पहली सड़क से गुज़रने लगे तो उन्हें कुछ आवाज़ें सुनाई पड़ीं और एक नौजवान नशे में धुत मोरी में पड़ा दिखलाई दिया। उन्होंने पूछा, "तुम अपना समय शराबखोरी में क्यों गंवाते हो?" उसने उत्तर दिया, "मैं कोढ़ी था। आपने मुझे ठीक कर दिया। अब मैं और क्या करूं?" कुछ दूर और चलने पर उन्होंने देखा कि एक नवयुवक एक वेश्या का पीछा कर रहा है। उन्होंने कहा, "तुम अपनी आत्मा को विषय-वासना से क्यों दूषित कर रहे हो?" और नौजवान ने उत्तर दिया, "लॉर्ड, मैं अंधा था।

---

१. डी० एच० मिलर-बार्स्टोः 'बियटी ऑफ द सी० पी० आर०' (१९५१) पृष्ठ १५४–१५५।

आपने मुझे दृष्टि दी। अब मैं और क्या करूं ?" अन्त में, नगर के बीचोंबीच ज़मीन पर पड़ा एक बूढ़ा आदमी दीखा। वह रो रहा था। उन्होंने उससे पूछा, "तुम रो क्यों रहे हो ?" बूढ़े ने उत्तर दिया, "लॉर्ड, मैं मर गया था। आपने मुझे फिर जीवन दिया। अब मैं रोने के अलावा और क्या करूं ?"

हमारी वैज्ञानिक उपलब्धियां हमारे स्वास्थ्य, समृद्धि, अवकाश, यहां तक कि स्वयं जीवन की अभिवृद्धि में सहायक तो होती हैं, लेकिन हम उनका उपयोग क्या करते हैं ? अपनी आत्मा को शराब या वासना में डूब जाने देते हैं या शून्यवाद को मानने लगते हैं जिसके अनुसार चेतना एक संकट है और जीवन से अधिक श्रेयस्कर मृत्यु है ?

हम कभी-कभी कहते हैं कि हाइड्रोजन बम शान्ति-स्थापना का अस्त्र बन सकता है क्योंकि उसकी विनाश-क्षमता युद्ध को रोकने में समर्थ है। हाइड्रोजन बम मानव के लिए एक चुनौती है, एक नवीन स्वभाव, एक नवीन आध्यात्मिक दृष्टिकोण के विकास की पुकार है। बियटी ने अपने समय के नौजवानों को सलाह दी थी कि वे क्रोध कम करें, दूसरों की भर्त्सना न करें, दूसरों के उत्कृष्ट अंश पर विश्वास करने को तैयार रहें, सहज ज्ञान और करुणा जैसे गुणों का विकास करें।

२. पूर्व और पश्चिम

इतिहास पर व्यापक दृष्टि डालने पर हमें पता लगता है कि प्राच्य जीवन-दर्शन पाश्चात्य जीवन-दर्शन से भिन्न नहीं है। राष्ट्रीय अथवा महाद्वीपीय मनो-विज्ञान के भ्रममूलक विज्ञान में, जिसके अनुसार सभी प्राच्य एक प्रकार के हैं और सभी पाश्चात्य दूसरे प्रकार के, अधिक सत्यता नहीं है। इस प्रकार के सरसरे वक्तव्य किसी राष्ट्र के इतिहास की जटिलता का संकेत तो करते हैं, किन्तु वह वास्तव में उससे कहीं अधिक जटिल है। सचाई तो यह है कि पूर्वी और पश्चिमी जातियों का आरम्भ एक ही प्रकार से हुआ था। अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं से उन्होंने अपेक्षाकृत स्वतन्त्र दृष्टिकोणों का विकास किया और कुछ ऐसे लक्षण उपलब्ध किए जिनके कारण वे परस्पर अलग दीखने लगे। आज दोनों एक ही समस्या का समाधान ढूंढ़ने में लगे हैं, और वह समस्या है मानसिक और आध्यात्मिक मूल्यों के एकीकरण की। इन्हीं दोनों मूल्यों के पारस्परिक तनाव में ही इतिहास का अर्थ और उद्देश्य निहित है। पूर्व और पश्चिम दोनों में अनिश्चित प्रतिकूलताएं हैं और उन्हें हल करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। पूर्व और पश्चिम दोनों एक-दूसरे से सीखने, नवीन, चिरपरिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ अतीत से प्राप्त परम्परा का सामंजस्य बिठाने तथा उसे एक नया जीवन्त रूप देने को

प्रयत्नशील हैं। आत्मिक मूल्यों और मस्तिष्क की उपलब्धियों के बीच के तनाव को कम करने के प्रयास में ही हमें मानवीय आत्मा की अतुलनीय उड़ानों और नये क्षितिजों के उद्घाटन के दर्शन होते हैं। आज भी मानव की अजेय आत्मा पीछे नहीं आगे देख रही है, ऊंचाई की ओर निरख रही है, तारों तक पहुंच रही है, फिर चाहे इसका मूल्य कितना ही अधिक क्यों न हो और परिणाम कुछ भी हो। प्रयत्न करना हमारा धर्म है, असफलता से कुछ नहीं बिगड़ता क्योंकि असफलताएं ही सफलता की आधार हैं।

केवल तीन व्याख्यानों में पूर्व और पश्चिम के सम्बन्धों की सम्पूर्ण अथवा क्रमबद्ध व्याख्या प्रस्तुत करना संभव नहीं है। इसके लिए जितने विशद अध्ययन और चुनाव-क्षमता की आवश्यकता है वह मुझमें नहीं है। मेरा उद्देश्य तो बिलकुल सीमित है। मैं इस विशद समस्या पर कुछ विचार-मात्र प्रस्तुत करना चाहता हूं।

पूर्व और पश्चिम ऐसे शब्द हैं जिनकी ठीक-ठीक परिभाषा संभव नहीं। उत्तरी अमेरिका के 'इंडियन' (आदिवासी) निश्चित रूप से अमेरिकावासी हैं क्योंकि वह धरती उनकी थी, किन्तु नृतत्त्वशास्त्री उनका सम्बन्ध पूर्वी जातियों के साथ जोड़ते हैं। आज का अमरीका यूरोप का ही प्रक्षेप, उसकी ही शाखा है। अमरीका ने यूरोप की ही परम्पराएं प्राप्त की हैं और उसके ही सिद्धान्तों, धार्मिक विश्वासों, चरित्र और आचारसंहिता, कानून की प्रणालियों और सरकार के ढांचे, कला और विज्ञान को अपना लिया है। ऐंग्लो-सैक्सन उत्तरी अमरीका तथा लैटिन मध्य और दक्षिणी अमरीका दोनों यूरोप के भी हैं और अपने भी। अमरीकाओं को छोड़ भी दें तो भी हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यूरोप कहां प्रारंभ होता है और एशिया कहां समाप्त। यूरोप वास्तव में एशिया के विशाल भूभाग से जुड़ा हुआ एक लम्बा क्षैतिज प्रायद्वीप है, और इसे यह नाम यूनानियों ने दिया था जो इसे 'विशाल फैलाव' समझते थे। इसका समुद्रतट बहुत कटा-फटा तथा लम्बा है। दक्षिण में यह पश्चिमी एशिया व पूर्वी अफ्रीका से मिला है तथा उत्तर में एशियाई भूभाग से संयुक्त है।

इस समस्या पर यदि हम इतिहास और संस्कृति के दृष्टिकोण से विचार करें तो हमें मालूम है कि, "परस्पर सम्बंधित भाषाओं का एक परिवार—इंडो-यूरोपियन—पश्चिमी आयरलैंड तथा स्काटलैंड के पठारों से गंगा और उससे भी आगे तक अबाधित रूप से फैला है और उसमें कहीं कोई अवरोध नहीं है।"[1]

१. 'द यूरोपियन इन्हेरिटेन्स', सम्पादक : सर अर्नेस्ट बार्कर तथा अन्य (१९५४), खंड तीन, पृष्ठ २९६।

सभ्यता के मूल्यों पर पूर्व या पश्चिम किसी का भी एकाधिकार नहीं रहा है।

थूसीडाइड्स के अनुसार, ५०० ईसापूर्व या कम से कम उसके अपने समय (४०० ईसापूर्व) से पहले कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं घटी।[1] यह गलत है। प्लेटो से बहुत पहले ही एशिया के विभिन्न भागों—चीन, ईरान और भारत—में मानव तथा उसकी संस्थाओं को निर्दोष बनाने की आवश्यकता पर विचार किया गया था। ज़रथूस्त्र की चरित्रसंहिता का उद्देश्य भौतिक संसार पर ही नहीं आत्मा पर भी सद्गुणों की विजय दिखाना है और इसकी सहायता से ही यूनानी दर्शन परिपक्व हो सका। व्यक्तिगत मूल्य और सामाजिक आचार-विचार पर कन्फ़्यूशियस के विचार जगत्प्रसिद्ध हैं।[2]

फिर मानव का उदय प्राणि-विशेष के रूप में हुआ और सभ्यता, जिसके बारे में हम कुछ नहीं जानते, जनमी। इस समय मानव के इतिहास में विशाल परिवर्तन हुए। तब ८०० ईसापूर्व से २०० ईसापूर्व तक, जिसे प्रोफेसर कार्ल जैस्पर्स ने 'केन्द्रीय' युग कहा है, संसार के तीन विभिन्न भागों—भूमध्यसागरीय प्रदेश, चीन और भारत—में दर्शनों और धर्मों का विकास हुआ। इन विचार-प्रणालियों ने जातीय धर्म का खंडन किया और व्यक्ति की स्वाधीनता तथा 'सार्वभौम' के साथ उसके सम्बन्ध की पुष्टि की। प्रत्येक भूभाग में बौद्धिक प्रगति समान परिस्थितियों—अनेक छोटे-छोटे राज्यों की उपस्थिति—के कारण हुई। राजनीतिक एकता स्थापित करने के प्रयत्न किए गए। समानान्तर आध्यात्मिक विकास वास्तव में मानवता की मूलभूत एकता का ही प्रमाण है। लगभग १५०० वर्षों तक इन संस्कृतियों का समानान्तर विकास होता रहा। फिर वैज्ञानिक और यांत्रिक उपलब्धियों ने पश्चिमी देशों में विशाल परिवर्तन ला दिया और संस्कृतियों की भिन्नता स्पष्ट हो गयी।

खगोलज्ञों का अनुमान है कि भौतिक विश्व का प्रारंभ चार या पांच अरब वर्ष पहले हुआ था। उससे पहले न तो तारे थे और न परमाणु। पृथ्वी का जन्म लगभग तीन अरब वर्ष पहले हुआ था। फिर क्रमशः रीढ़धारी तथा स्तनपोषी

---

१. 'द यूरोपियन इन्हेरिटेन्स', सम्पादक : सर अर्नेस्ट बार्कर तथा अन्य (१९५४) खंड एक, पृष्ठ ८–१०।

२. विश्वास है कि कन्फ़्यूशियस और जेफ़र्सन दोनों ही मामूली आदमी, किसान या मज़दूर की चिन्ता में एकमत हैं, तथा दोनों ही अध्यात्मविद्या को तुच्छ समझते हैं, सत्तावाद के विरोधी हैं, शिक्षाप्रसार को सरकार का उचित कर्तव्य मानते हैं, व्यक्ति-विशेष की संभावनाओं के पूर्ण विकास पर विश्वास रखते हैं, और व्यक्तिगत व सार्वजनिक गुणों की निरन्तर खोज करते रहना चाहते हैं।

जन्तु पैदा हुए। आदमी इस ग्रह पर लगभग पांच लाख साल पहले आया। वह अन्य प्राणियों से भिन्न अद्वितीय प्राणी था। वह अपने सबसे नज़दीकी रिश्तेदारों, वनमानुषों, से भी भिन्न था क्योंकि उसने पेड़ों पर रहना छोड़कर दो पैरों पर चलना शुरू कर दिया। मनुष्य अपने पिछले पैरों पर चलने लगा तो उसके अगले पैरों और पंजों को उसके शरीर का भार संभालने की आवश्यकता न रही और वे अधिक सुकुमार काम करनेवाले हाथों में बदल गए। इस कारण वह सीधा खड़ा रहने और सांस की क्रिया को नियंत्रित रखने लगा; फलतः वाणी का विकास हुआ। किन्तु आदमी तथा दूसरे जानवरों के बीच का सबसे बड़ा अन्तर तो है आदमी के मस्तिष्क का आकार और गुण। मानो अपने से पहले के जानवरों को पीछे छोड़कर, आदमी तर्करहित जीवन के अंधकार से बाहर निकल आया और प्रश्न करने लगा, 'क्यों?' यही विवेकयुक्त चेतनता का प्रादुर्भाव है। वह अब अंधी भौतिक शक्तियों का शिकार नहीं है, वरन् अपने भविष्य के निर्माण में स्वयं भागी बनता है। जानवर अनुभव से और नकल करके ही सीखते हैं, किन्तु अनुभव से सीखने की क्षमता का सर्वाधिक विकास आदमी में ही हो पाया है।

विचार-क्षमता का पहला प्रकाशन हथियार बनाने में हुआ। यूरोप, एशिया और अफ्रीका में हमें पूर्व प्लीस्टोसीन युग के पत्थर के हथियार मिले हैं, जो विशेष कामों के लिए बनाए गए थे।

भावना और कल्पना विचार के संगी हैं। पूर्व पैलियोलिथिक युग में पत्थर के हथियारों के आकार और बनावट में सुधार हुआ; फलतः वे और अधिक उपयोगी तथा सुन्दर हो गए। उत्तर पैलियोलिथिक युग की कलात्मक क्षमता के नमूने—छेददार सीपियां और घोंघे, नक्काशीदार कंगन तथा हाथीदांत की नाक की कीलें—हमें आज भी मिलते हैं। गुफाओं की दीवारों पर अंकित या खुदे हुए चित्रों से पता चलता है कि उस समय के आदमी तीन विभाओंवाले दृश्यों को दो विभाओंवाले चित्रों में प्रदर्शित करने की योग्यता रखते थे। स्पष्ट है कि उन्हें परिप्रेक्ष्य तथा तत्सम्बन्धित प्रकाश के नियमों का ज्ञान था। विचारक्षमता और कल्पनाशक्ति दोनों सक्रिय थीं। "आश्चर्यजनक वस्तुएं तो अनेक हैं, किन्तु आदमी के बच्चे से बढ़कर अद्भुत, विलक्षण कोई नहीं है"[1] कहते समय सोफ़ोक्लीज़ का ध्यान केवल विचारक्षमता, अध्ययनशीलता और स्मृति पर ही नहीं वरन् कल्पनाशक्ति, नये विचारों का सृजन तथा समय और स्थान की दूरी को पार करके ज्ञान को सुरक्षित रखने और प्रसारित करने की क्षमता पर भी था। कल्पनाजन्य कृतियां भी व्यावहारिक और भौतिक हथियारों के समान ही

१. गिल्बर्ट मरे कृत 'ऐंटिगॉन' का अंग्रेज़ी अनुवाद (जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन लिमिटेड)।

पुरानी हैं।

नियोलिथिक युग में क्रान्ति हुई। आदमी खाद्य-संग्रह करना छोड़कर खाद्य-उत्पादन करने लगा। अनाज की खेती और पशुपालन इस परिवर्तन के मुख्य लक्षण थे और इन्हींके कारण जनसंख्या तेज़ी से बढ़ने लगी। इससे एक नवीन अर्थ-व्यवस्था का उदय हुआ। पैनी लकड़ी या कुदाल से ज़मीन खोदना, फिर बैल या इसी तरह के दूसरे जानवरों द्वारा खींचे जानेवाले हल का इस्तेमाल, नदियों से नहरें निकालकर ज़मीन की सिंचाई करना—इन सबके कारण नये शिल्प का आरम्भ हुआ। नियोलिथिक क्रान्ति का अर्थ है प्रकृति के प्रति एक नया तथा अधिक आक्रमणात्मक दृष्टिकोण। इस युग के मानवों ने प्रकृतिप्रदत्त चीज़ों को चुपचाप स्वीकार न करके अपनी आवश्यकतानुसार उन्हें बदला भी। उन्होंने प्राकृतिक रूप से न पायी जानेवाली कृत्रिम वस्तुओं—जैसे, मिट्टी के बर्तन, ईंटें, कपड़े—का निर्माण किया। उन्होंने पहिये बनाए; वे पशु-पालन करने, घर बनाने और जलवायु के परिवर्तनों से अपनी रक्षा करने के लिए सूती या ऊनी कपड़े बुनकर या चमड़ा सिलकर पहनने के वस्त्र बनाने लगे। स्वयं को अनुशासित करके उन्होंने स्थायी समुदायों की नींव डाली। खाद्य-उत्पादन सभ्यता की आवश्यक शर्त है, और प्राप्त प्रमाणों से पता चलता है कि इसका आरम्भ मिस्र और मध्यपूर्व में यूरोप के किसी भी स्थान से 'लगभग २००० साल पहले' हो चुका था।[1]

मानव-जीवन सह-अस्तित्व और सहयोग का संयुक्त जीवन है। यह सामुदायिक जीवन जड़ प्रक्रिया नहीं है, गतिमय है, जिसमें क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं होती हैं। मधुमक्खी के छत्ते या चींटियों की बांबी की तरह, सामाजिक या सहयोगी जीवन पर प्रवृत्तियों का नहीं बल्कि अर्थ और उद्देश्य का प्रभाव पड़ता है। इसी मानसिक यथार्थ के कारण झुंड मानव-समाज बन जाता है। भाषा और संकेतों तथा धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं द्वारा यही यथार्थ प्रकट होता है।

लाखों वर्षों के अप्राप्य प्राग्-इतिहास में मानव के निर्माण की दिशा में निश्चित कदम उठाए गए। उसकी तुलना में पिछले छः हज़ार वर्षों का लिखित इतिहास थोड़े ही समय का है। उन लम्बे युगों में अनेक आकार के मनुष्य दुनिया के विभिन्न भागों में रहते थे और एक-दूसरे के बारे में उन्हें तनिक भी ज्ञान न था।

यूरोप को केन्द्र मानकर पूर्व और पश्चिम का अन्तर बतलाया जाता है। भौगो-

१. प्रोफेसर वी० गार्डन चाइल्ड का विचार है कि 'सम्भावना इस बात की है कि यूरोप में नियोलिथिक अर्थशास्त्र का क्रमशः प्रवेश निकटपूर्व से हुआ था' फिर भी, । वे स्वीकार करते हैं, इस विचार का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।—'द यूरोपियन इन्हेरिटेन्स' प्रथम खंड (१९५४) पृष्ठ ४१।

लिक क्षेत्र सांस्कृतिक या नृतत्त्वशास्त्रीय इकाइयां नहीं होते।[1] पूर्व और पश्चिम दोनों में से कोई भी संसृष्ट इकाई नहीं है। दोनों में से प्रत्येक केवल एक शब्द है, जो विकास की विभिन्न दशाओं में अनेक पृथक्-पृथक् लोगों और धर्मों के लिए प्रयुक्त होता है। दोनों की संस्कृतियों का अपना अलग व्यक्तित्व था। अफगान मुसलमान और फ़िलिपिनो कैथलिक या चीनी ताओवादी और लंकावासी बौद्ध में कोई समानता नहीं है। फ्रांस और जर्मनी तथा स्पेन और स्कैंडिनेविया के समान चीन, जापान और भारत का अपना-अपना अलग सांस्कृतिक विकास हुआ था। अतः पश्चिमी या पूर्वी संस्कृति कहने का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि समान आरंभ होने पर भी उनके अनेक उपविभाग रहे हैं। फिर भी, जितनी अच्छी तरह पश्चिमी संस्कृति की उपसंस्कृतियों को परस्पर सम्बन्धित किया जा सकता है, उतनी अच्छी तरह पश्चिमी और पश्चिमेतर संस्कृतियों को नहीं।

इतिहास पर व्यापक दृष्टि डालने पर हमें मालूम होगा कि सम्पूर्ण मानव-जाति और उसकी सामाजिक व्यवस्थाओं के कुछ मौलिक लक्षण होते हैं, जो हमारे विचारों को आक्रान्त किये रहनेवाले अन्तरों से अधिक प्राथमिक हैं। फिर भी ये अन्तर स्पष्ट हैं और किसी संस्कृति को उसका रूप और विशिष्टता प्रदान करते हैं। और संस्कृति अपने सदस्यों को विपरीत दिशाओं में क्रियाशील बलों के अत्यन्त सूक्ष्म संतुलन के फलस्वरूप उत्पन्न समतुलन और दृढ़ता प्रदान करती है। उदा-रणतः, भारतीय संस्कृति एक लम्बी एवं वैविध्यपूर्ण परम्परा है; दर्शन और धर्म, कला और साहित्य, विज्ञान और मानव-विज्ञान के क्षेत्रों में एक महान अटूट प्रयास है।

किसी ऐतिहासिक संस्कृति की बात करने का अर्थ है उसे जीवित रखनेवाले मूल्यों और विश्वासों की बात करना, उसके सामाजिक ढांचे का निर्धारण करने-वाली आध्यात्मिक शक्तियों की बात करना। मार्क्सवादियों का विश्वास है कि संस्कृति उत्पादन के भौतिक उपायों का बाहरी ढांचा मात्र है किन्तु यह ठीक नहीं। केवल हिन्दू भारत, बौद्ध एशिया, पश्चिमी ईसाई-साम्राज्य या मुसलमान समाज जैसे नामों से ही मालूम होता है कि प्रत्येक समाज की आधारशिलाएं आध्यात्मिक परम्पराएं हैं, जीवनदर्शन हैं। सामाजिक संस्थाएं, आर्थिक व्यव-स्थाएं और वैज्ञानिक विश्वास सभी परस्पर कुछ आदर्शों से बंधे हैं, जिनके बल

---

१. यूरोप के साथ भौगोलिक सीमाओं के आधार पर एशिया का विभाजन निकटपूर्व, मुसल-मान देश, मध्यपूर्व, भारत, इंडोनेशिया और सुदूरपूर्व, चीन, जापान और इंडोचीन में किया गया है।

पर ही मानव अपनी प्रकृति की द्वैतता—पशु और मानव, प्रवृत्ति और बुद्धि, व्यक्ति और समाज—पर विजयी हो पाता है । जब तक कोई समाज अपने आदर्श पर जीवित रहता है, तभी तक उसके उपायों और उपलब्धियों में अर्थ रहता है । विश्वास खंडित हो जाने पर समाज का दिशानिर्देशक और दिशा दोनों खो जाते हैं । अनिवार्य विश्वासों का मुरझाना ही सांस्कृतिक ह्रास का लक्षण है । स्पेंग्लर के शब्दों में, संस्कृति कठोर होकर सभ्यता बन जाती है, एक निश्चित आकार ग्रहण कर लेती है, जिसमें कोई और रूप ग्रहण करने की, आगे विकास की क्षमता नहीं रह जाती। पुरानी और नई सभी संस्कृतियों की जड़ें होती हैं। उनपर दूसरे प्रभाव पड़ते हैं । पुराने समय में चीनी और हिन्दू संस्कृतियों का सम्पर्क पश्चिमी संस्कृतियों के साथ था । इसी प्रकार पश्चिमी संस्कृतियों का सम्पर्क चीनी और हिन्दू संस्कृतियों के साथ था। विचारों का आदान-प्रदान बहुत अधिक हो चुका है, जिसे उस सीमा तक स्वीकार करने की प्रवृत्ति हममें नहीं है ।

३. सिंधु-सभ्यता

बिशप वेस्टकॉट ने स्वर्गीय श्री सी० एफ़० एण्ड्रूज़ से कहा था : "भारत और यूनान ही ऐसे दो विचारक राष्ट्र थे जिन्होंने संसार के इतिहास का सृजन किया। यूनान यूरोप का अगुआ था । उसी प्रकार भारत सदा एशिया का अगुआ रहेगा।"[1] भारत एशिया का अगुआ होने का दावा नहीं करता और चीन की संस्कृति की प्राचीनता और महत्ता को स्वीकार करता है, फिर भी इस कथन से इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही एशियाई मामलों पर भारत का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है।

अपने अध्यात्मवाद और निश्चयवाद, आत्मविषयक दृष्टिकोण और हेतुवादी विचारधारा-सहित भारतीय संस्कृति का प्रभाव चार हज़ार वर्षों से संसार पर छाया हुआ है । इंडोनेशिया और इंडोचीन, मलय और थाईलैंड, बर्मा और लंका, चीन और जापान कुछ अंशों में भारतीय आत्मा—ब्राह्मण और बौद्ध—के साक्षी हैं । अंगकोर का शानदार सौन्दर्य और बोरोबुदुर की शान्त रम्यता को देखकर हमें उनके निर्माताओं की अद्भुत प्रेरणा और शिल्पकुशलता पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता ।

हमारे एक महान कवि कलिदास को मालूम था कि विदेशों में भारत का प्रभाव कितना था। इसीलिए क्या आश्चर्य, यदि उन्होंने हिमालय पर्वत का वर्णन इस तरह

१. 'चार्ल्स फ्रियर ऐण्ड्रूज़', बनारसीदास चतुर्वेदी तथा मार्जरी साइक्स (१९४९), पृष्ठ १८ (जॉर्ज एलेन ऐंड अनविन)।

किया मानो वह पृथ्वी को मापने का गज़ हो, सभ्यताओं को मापने का पैमाना हो।[1] कहा जाता है कि हिमालय पर देवताओं का निवास है।[2]

जिस संस्कृति का विकास लम्बे समय तक अविच्छिन्न रहा हो, उसकी आत्मा से साक्षात्कार करने का ढंग यह नहीं है कि किसी विशेष समय पर उसका लेखा-जोखा ले लिया जाए। यह लेखा-जोखा न तो उसके पहले की दशाओं में मिल सकता है और न बाद के विकास में। किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझने का ढंग यही है कि उसकी सम्पूर्ण वृद्धि को समझा जाए और उस गुह्य अर्थ को पाने का प्रयास किया जाए, जो हर दशा में अपनी अभिव्यक्ति के लिए संघर्षरत रहता है किन्तु कभी भी सम्पूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाता। यही है वह अन्तरात्मा जो इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं को एक सूत्र में बांधती है, और प्राचीनतम तथा नवीनतम सभी अवस्थाओं में उपस्थित है। भारतीय संस्कृति का यह अर्थ, यह आध्यात्मिक केन्द्रबिन्दु क्या है?

कुछ समय पहले तक हम सोचते थे कि लगभग तीन हज़ार वर्ष पहले भारत में एक उच्च सभ्यता थी, जिसका विशाल प्रभाव पश्चिमी देशों पर यूनानियों और अरबों द्वारा पड़ा था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की पुरातात्त्विक खोजों से पता चला है कि ३००० ईसापूर्व सिन्धु-घाटी में एक अत्यन्त उन्नत सभ्यता थी। मुहरों और तावीज़ों पर की गई खुदाई से परिणाम निकाला जा सकता है कि बाद के भारतीय धार्मिक जीवन पर इस सभ्यता का अमित प्रभाव पड़ा था।[3] सर जॉन मार्शल का कथन है कि अनेक प्रमाणों से भारत में एक अत्यन्त विकसित

---

१. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥ —कुमारसंभव, १,१

२. देवभूमित्वम् शक्यते।

३. फ़ादर हेरास ने लिखा है: "समय बीतने के साथ-साथ भारत में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। वहां के विशाल मैदानों में विदेशी आक्रमण हुए हैं, लड़ाइयां लड़ी गयी हैं, नये-नये राष्ट्रों और जातियों ने उसे पराजित करके वहां शासन किया है, विदेशी सभ्यताओं ने नये विचार और नये आदर्श प्रदान किए हैं, लेकिन प्रत्येक जाति और प्रत्येक वस्तु को भारतीय राष्ट्र और उसकी प्राचीन सभ्यता ने प्रभावित किया है, तथा उनका रूप, आकार और प्रकार नये ढांचे में ढल गए हैं। मिस्र, बैबिलोनिया और असीरिया की प्राचीन सभ्यताओं का नामोनिशान तक आज संसार के नक्शे पर नहीं है। किन्तु भारतीय सभ्यता, जिसकी पहली किरणों को, आज के युग में, सिंधु घाटी में खोज निकाला गया है, अब भी जीवित है'''स्टडीज़ इन प्रोटो-इंडो-मेडीटरेनियन कल्चर' (१९५३), पृष्ठ ११।

संस्कृति की उपस्थिति का पता चलता है "जिसके पीछे अवश्य ही भारत की धरती पर एक लम्बा इतिहास होना चाहिए, जिसके प्रारम्भिक युग की मात्र धुंधली कल्पना ही की जा सकती है।"[1] प्रोफेसर चाइल्ड ने लिखा है : "मिस्र और बैबिलोनिया के समान भारत में भी, ईसा से तीन हज़ार साल पहले, अपनी एक सर्वथा स्वतन्त्र व्यक्तित्वशालिनी सभ्यता थी, जो अन्य सभ्यताओं की सिरमौर थी। और स्पष्टतः उसकी जड़ें भारतीय धरती में गहराई तक चली गई हैं।" वे आगे लिखते हैं : "यह अभी भी जीवित है, यह निस्सन्देह भारतीय है और आधुनिक भारतीय संस्कृति की आधारशिला है।"[2] इस संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध पश्चिमी राष्ट्रों की संस्कृतियों के साथ था।[3]

---

१. 'मोहनजोदड़ो ऐण्ड द इण्डस सिविलाइज़ेशन' (१९३१) खंड १, पृष्ठ १०६।

२. 'न्यू लाइट ऑन द मोस्ट ऐंशेंट ईस्ट' (१९३४), पृष्ठ २२०। प्रोफेसर फ्रैंकफ़र्ट ने लिखा है : "यह निर्विवाद है कि सभ्य संसार का निर्माण करनेवाली प्राचीनतम जटिल संस्कृति में यूनानियों के उत्थान से पहले भारत का प्रमुख भाग था।"

'द इण्डस सिविलाइज़ेशन ऐंड द नियर ईस्ट', ऐनुअल बिबिलियोग्राफी आफ इण्डियन आर्कियोलॉजी, खण्ड ७, पृष्ठ १२। डॉक्टर हाल का कथन है : "इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत प्राचीनतम मानव-संस्कृति के केन्द्रों में से एक रहा होगा और यह कल्पना भी स्वाभाविक है कि पश्चिम को सभ्य बनाने के उद्देश्य से पूर्व से आनेवाले विचित्र प्राणी, जो न तो सेमेटिक थे और न आर्य, भारत के ही निवासी थे। हम स्वयं देखते हैं कि सुमेरियाई लोग भारतीयों के कितने समान हैं। इस तथ्य से भी यही मालम होता है।" १७४।

३. मिस्र और बेबिलोनिया की सभ्यताओं तथा चीन और भारत की संस्कृतियों को अल्फ्रेड वेबर प्रारम्भिक संस्कृति के, जो अनैतिहासिक भी है और अंधविश्वासी भी, उदाहरण मानते हैं। इनकी तुलना वे करते हैं यूनानी-यहूदी आधार पर केवल पश्चिम में विकसित सहायक संस्कृतियों से। कार्ल जैस्पर्स इस विचार के विरोध में कहते हैं : "आज हम जिस भारत और चीन को जानते हैं उनका जन्म 'एक्शियल' युग में हुआ था, उनकी संस्कृतियां प्रारम्भिक नहीं सहायक हैं। भारत और चीन दोनों ही पश्चिम के समान आध्यात्मिक गहराइयों में उतर सके थे। ऐसा मिस्र और बेबिलोनिया तथा भारत और चीन की आदिकालिन संस्कृतियों में सम्भव न हो सका था।" कार्ल जैस्पर्स कृत 'द ओरिजिन ऐण्ड गोल आफ हिस्टरी', अंगरेज़ी अनुवाद (१९५३), पृष्ठ २७८। अल्फ्रेड वेबर इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं हैं। वे लिखते हैं : 'नौ सौ ईसापूर्व तक संसार में तीन संस्कृति-केन्द्रों—पश्चिमी एशियाई-यूनानी, भारतीय और चीनी—की स्थापना हो चुकी थी। उस समय से छः सौ ईसापूर्व तक तीनों केन्द्रों में लगभग आश्चर्यजनक रूप से एक ही समय में और परस्पर स्वतन्त्र रूप से धार्मिक एवं दार्शनिक खोजें हुईं तथा उन विचारों और निष्कर्षों की दिशा सार्वभौमिकता की ओर थी। जरथूस्त्र, यहूदी सिद्धों, यूनानी दार्शनिकों, बुद्ध, लाओत्से द्वारा विश्व की धार्मिक एवं दार्शनिक व्याख्याएं की गईं तथा मानसिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ। पारस्परिक आध्यात्मिक प्रभावों के कारण ये और विकसित हुईं, नये ढांचे में ढलीं, मिश्रित हुईं, पुनः जनमीं, रूपान्तरित हुईं या सुधरीं। ये ही विश्व के धार्मिक विश्वासों और

मोहनजोदड़ो का सर्वोत्कृष्ट समय ३५००–२२५० ईसापूर्व के बीच था। नगर योजनानुसार बसा था। तेंतीस फुट चौड़ी सड़कें पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण जाती थीं। गलियों की चौड़ाई इनसे आधी थी। इमारतें पकी ईंटों और मिट्टी के गारे से बनी थीं। अनेक इमारतें तो कई मंज़िलों की थीं। मकानों में स्नानागार और नालियों का प्रबन्ध था। सार्वजनिक स्नानागार भी थे। नालियों के पाइप मिट्टी के थे–पकाकर, आपस में जोड़कर बनाए हुए। मिट्टी या पत्थर की तावीज़ों से उनका सौन्दर्य-प्रेम स्पष्ट है। उनपर चमकदार पालिश है अथवा बैल, बाघ, हाथी या मगर के चित्र खुदे हैं। जानवरों के चित्र यथातथ्य हैं। वे सोना, चांदी, सीसा, तांबा आदि धातुओं का प्रयोग जानते थे। वे कांसे के संकर बनाना जानते थे। आकर्षक नृत्य करती हुई एक युवती की कांस्य-मूर्ति खुदाई से प्राप्त हुई है। चूड़ियां, कंगन और नाक की कीलें भी मिली हैं, तराजू मिले हैं जिनसे मालूम होता है कि तौलने और मापने के उपकरणों का उन्हें ज्ञान था। गोटियां मिली हैं, और एक तरह का खेल वर्गों में विभाजित तख्ती पर मोहरों से खेला जाता था। उन्हें कपास (या रूई) को उपयोग में लाना आता था।[1]

मोहनजोदड़ो में प्राप्त धार्मिक अवशेषों में मां देवी की मूर्तियां हैं। इसके अतिरिक्त एक पुरुष देवता की मूर्तियां भी मिली हैं, जो परम्परागत शिव की प्रतिरूप मालूम पड़ती हैं। स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दू धर्म की अनेक विशेषताओं के स्रोत अत्यन्त प्राचीन हैं। सर जॉन मार्शल ने तीन मुखों वाले एक देवता (त्रिमूर्ति) का ज़िक्र किया है, जो एक चौकी पर पद्मासन में ध्यानावस्थित बैठे हैं। वे मृगछाला पर आसीन हैं और उनको घेरे हुए हैं हाथी, बाघ, गैंडा और भैंसा। महान योगी शिव की यह मूर्ति पांच-छः हज़ार वर्षों से भारत के आध्यात्मिक जगत् में प्रमुख स्थान ग्रहण किए है और इस तथ्य की प्रतीक है कि आत्मविजय, साहस, पवित्रता, जीवन में एकता और भाईचारे से ही पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। यही आदर्श हमें परमात्मा के चिन्तन में लीन उपनिषदों के द्रष्टाओं में, अज्ञान और ईर्ष्या को पराजित करनेवाले शान्त एवं सौम्य बुद्ध में, आत्मसमर्पण के पश्चात् सार्वभौम प्रेम में एकाकार हो जाने और

दार्शनिक व्याख्याओं के मापदंड हैं। इस युग की समाप्ति के बाद, अर्थात् सोलहवीं शताब्दी के बाद, धार्मिक विश्वासों में मूलतः नया कुछ भी नहीं जोड़ा जा सका है।"

—कार्ल जैस्पर्स कृत 'द ओरिजिन एण्ड गोल आफ हिस्टरी', अंगरेज़ी अनुवाद, (१९५३) पृष्ठ २७९।

१. शताब्दियों बाद हेरोडोटस ने 'एक पौधे' का ज़िक्र किया 'जिसमें फल नहीं लगते बल्कि भेड़ के ऊन से भी अधिक अच्छा और बढ़िया ऊन पैदा होता है, भारतीय जिससे कपड़े तैयार करते हैं।'

ईश्वर का भक्त बन जाने, और आत्मलीन लालसाओं से ऊपर उठकर परम पिता परमात्मा की इच्छा का पालन इस पार्थिव जगत् में सदैव करनेवाले साधुओं के आनन्दातिरेक में मिलता है। सृजनात्मक जीवन केवल उन्हींके लिए संभव है, जो एकाग्र और पवित्र रह सकते हैं, और जिनमें एकान्त-चिन्तन का साहस है। एकान्त के क्षणों में ही सत्य और सौंदर्य के दर्शन होते हैं और हम उन्हें पृथ्वी पर लाते हैं, भावनाओं के परिधान पहनाते हैं, शब्दों में व्यक्त करते हैं, गतिमयता प्रदान करते हैं या दर्शन के रूप में आंक देते हैं। मस्तिष्क को आत्मा का वाहन बनाने के लिए एकान्त और चिन्तन आवश्यक हैं। सम्पूर्ण वृद्धि भीतर से बाहर की ओर होती है। आत्मा ही स्वतन्त्रता है। सच्चा ऐश्वर्य मानसिक है, भौतिक नहीं। स्वतन्त्रचेता व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अलग है।

भारतीय इतिहास के प्रारम्भ में ही मानव-चेतना की एक निश्चित दिशा निर्धारित कर दी गई है। अपना अस्तित्व बनाए रखना, आत्मा की निर्मलता को स्थिर रखना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। हममें आत्मपरकता का सिद्धांत कार्यरत है जो बाहरी प्रभावों के दबाव से मुक्त है। साधारणतः हम स्वयंचालित कल हैं; हमारे कथन और कार्य, मानसिक स्थितियां और भावनाएं, विचार और अभिप्राय सभी बाह्य शक्तियों द्वारा उत्पन्न होते हैं। किन्तु मानव को किसी अन्य आधार पर कार्यरत होना चाहिए। एक पृथक् अस्तित्व बनना उसके लिए आवश्यक है। जो कुछ वह है उतने से ही उसे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। अपनी चेतना में उसका पुनर्जन्म या कायाकल्प होना चाहिए। आमोद-प्रमोद और विलासमय जीवन बितानेवाला व्यक्ति अनिवार्यतः आन्तरिक पथ के पथिक, भीतर से बढ़ने और नई-नई शक्तियां व गुण प्राप्त करनेवाले व्यक्ति से ऊंचे तल पर नहीं होता। मानव केवल भौतिक सम्पत्ति—यहां तक कि ज्ञानार्जन—से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसका ध्येय कुछ और है—आत्मसाक्षात्कार करना।

४. वैदिक संस्कृति

१५०० ईसापूर्व से ६०० ईसापूर्व तक वैदिक युग माना जाता है। ऋग्वेद होमर या 'ओल्ड टेस्टामेंट' से भी पुराना है। वेदान्त के उद्गम, वेदों के अन्तिम अंश अर्थात् उपनिषदों की रचना 'ऑर्फिक' और एल्यूसीनियाई दर्शन तथा पाइथागोरस व प्लेटो से पहले हो चुकी थी। वेद आर्य और आर्यपूर्व दर्शन के सम्मिलन के प्रतीक हैं।

आध्यात्मिक उत्पीड़न, केवल-मात्र जिससे मानव महान हो सकता है, ऋग्वेद इन प्रसिद्ध शब्दों में फूट पड़ा है: "अस्तित्व या अनस्तित्व कुछ नहीं था। वायु

या ऊपर आकाश भी नहीं था। फिर वह क्या है जो गतिशील है ? किस दिशा में गतिशील है और किसके निर्देशन में ? कौन जानता है ? कौन हमें बता सकता है कि सृष्टि कहां हुई, कैसे हुई और क्या देवता इसके बाद पैदा हुए ? कौन जानता है सृष्टि कहां से आई ? और कहीं से आई भी तो इसका निर्माण भी हुआ या नहीं ? केवल वह अकेला जानता है, जो स्वर्ग में बैठा सम्पूर्ण सृष्टि को देख रहा है, और फिर क्या वह भी जानता है ?"[1] इन शब्दों में आत्मिक खोज, आध्यात्मिक अस्थिरता और बौद्धिक सन्देहवाद की अभिव्यक्ति है और यहीं से भारत के सांस्कृतिक विकास का आरंभ हुआ। ऋग्वेद के द्रष्टा एक सत्य में विश्वास करते हैं। यह सत्य हमारे अस्तित्व को नियंत्रित करनेवाला एक नियम है, हमारी सत्ता के विभिन्न स्तरों को बनाए रखता है, एक असीम वास्तविकता, 'एकम् सत्', है और विभिन्न देवता इसीके अनेक रूप हैं। ऋग्वेद के देवता वास्तव में अमर ईश्वर की शक्तियां हैं, सत्य के अभिभावक हैं तथा हम प्रार्थना, उपासना और भेंट द्वारा उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं। उनकी कृपा के बल पर हम सत्य के नियम, 'ऋतस्य पंथा',[2] को पहचान सकते हैं।

वेदों में जिन सत्यों का इंगित मात्र किया गया है, उपनिषदों में उन्हींकी व्याख्या की गई है। हम पाते हैं कि उपनिषदों के द्रष्टा जिस सत्य को देखते थे उसके प्रत्येक रंग-रूप के प्रति पूर्णतः ईमानदार थे। इस तथ्य के कारण उनकी व्याख्या के अनेक निष्कर्ष तो अब पुराने पड़ गए हैं किन्तु उनकी कार्यविधि, उनकी आत्मिक और बौद्धिक ईमानदारी तथा आत्मा की प्रकृति के बारे में उनके विचारों का स्थायी महत्त्व है।

उनका कहना है कि एक केन्द्रीय सत्ता अवश्य है, केवल एक, जिसके भीतर सब कुछ व्याप्त है। प्रत्यक्ष भौतिक विजयों, अन्तरिक्ष की अमाप विशालता और अगणित आकाशीय पिंडों से परे परमात्मा का अस्तित्व है। सम्पूर्ण सत्ता का

---

१. X, १२६।

२. मित्तनि एशिया (माइनर) में (चौदहवीं शताब्दी ईसापूर्व के) जालियों जैसे अभिलेख मिले हैं, जिनमें वैदिक देवताओं इन्द्र, मित्र, वरुण और अश्विनिकुमारों का ज़िक्र है। कहा जाता है कि ज़रक्सीज़ ने मीडिया में एक मन्दिर का विनाश कर दिया था। जहां इन्द्र और शर्व जैसे वैदिक नामों वाले देवताओं की पूजा की जाती थी। वैदिक और अवेस्ताई विश्वासों का निकट सम्बन्ध प्रसिद्ध है और बहुत प्राचीनकाल से ईरान और भारत के निवासी साथ-साथ अथवा बहुत समीप रहे थे। मित्र सूर्य के प्रकाश के वैदिक देवता थे और प्राचीन ईरान में उन्हें मिथ्राज़ कहा जाता था। मिथ्राज़ सम्प्रदाय का पश्चिम में खूब प्रसार हुआ। इस सम्प्रदाय को भी ईश्वरीय सत्य का उद्घाटन और मानवता को उसका उद्देश्य बतानेवाला कहा जाता था। एक समय तो ऐसा आया जब ईसाई धर्म के साथ इस सम्प्रदाय की प्रतियोगिता होने लगी। अभी कुछ समय पूर्व लन्दन नगर के बीच में, सेंट पॉल गिरजाघर के समीप, मिथ्राज़ का एक रोमक मन्दिर मिला है।

अस्तित्व परमात्मा के कारण है और परमात्मा के ही कारण इस संसार का कुछ अर्थ है।

परब्रह्म पुरुषोत्तम सारी वस्तुओं के भीतर व्याप्त है, मानव की आत्मा में तो उसका निवास है ही। "लघुतम से अधिक लघु और महत्तम से अधिक महत् यह अस्तित्व का सारतत्त्व प्रत्येक प्राणी के भीतर उपस्थित है।" भारत के बाहर जिस सिद्धान्त के कारण उपनिषद सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं वह है—तत् त्वम् असि; परब्रह्म का निवास प्राणी के भीतर है। परमात्मा हृदय की गहराइयों में प्रतिष्ठित है। "वह आदिसत्ता इन्द्रियग्राह्य नहीं है, अंधकार से घिरी अज्ञात की गहराइयों में स्थित है, घाटियों में अवस्थित है, प्राणियों के हृदय में निवास करती है।" परब्रह्म की उपस्थिति की प्रतीति से व्यक्ति पवित्र हो जाता है।

परब्रह्म पुरुषोत्तम को पहचानना और उसके साथ एकाकार हो जाना मानव-मात्र का लक्ष्य है। इस सम्मिलन की व्याख्या बाह्य ढंग से नहीं की जा सकती। ईश्वर को अपने से बाहर मानकर न तो उसकी आराधना की जा सकती है, और न सेवा या प्रेम। यह एक ऐसा कार्य है जिसे 'ईश्वर को अपना बना लेना और स्वयं ईश्वर का बन जाना' ही कहा जा सकता है। मानवीय विवेक की इस क्षेत्र में कोई पहुंच नहीं है, इसीलिए इसका विश्वस्त विवरण देना मानव के विवेक के लिए असंभव है। किन्तु मानव का हृदय ईश्वर से अवश्य प्रेम कर सकता है।

उच्चतम अवस्था 'ज्ञान' की अवस्था कही जाती है। इस एक शब्द से ही स्पष्ट है कि ईश्वर को समझना अनिवार्यतः संभव है और साथ ही मानव की समझने की सीमित शक्तियों से परे भी। उच्चतम अवस्था विवेक से परे है। विवेकहीन नहीं। अन्तर्दृष्टि वह सम्पूर्ण ज्ञान है जिसे हम अपनी तमाम शक्तियों के उपयोग से प्राप्त कर सकते हैं। प्रश्न केवल विचारों का नहीं है। यह तो ज्ञान को परिवर्तित करने की, व्यक्तित्व को पुनर्गठित करने की, अस्तित्व के नवीनीकरण की प्रक्रिया है। यह एक दृष्टि है, सचेतनता है, असीम स्वतंत्रता में मुक्ति है। यहां पर, जानना और होना तथा अपनाना और आनन्दित होना एक ही हैं। जिस व्यक्ति को यह मालूम है वह सत्य में सन्देह नहीं करता, जिस प्रकार तेज़ धूप में खड़ा हुआ व्यक्ति सूर्य की उपस्थिति में सन्देह नहीं करता। इस 'जानने' को 'विद्या' कहा गया है। इसका विलोम है 'अविद्या', अर्थात् मस्तिष्क और इन्द्रियों का संकरी सीमाओं में बंधे रहना।

यह सम्मिलन केवल विवेक द्वारा नहीं वरन् सम्पूर्ण व्यक्तित्व द्वारा संभव है। इसके लिए आवश्यकता है आत्मानुशासन की, आत्मकेन्द्रित लालसा तथा उसके

सहयोगी भय, घृणा और चिन्ता पर विजय पाने की। "अपनी वासनाओं पर विजय पानेवाला साधक अपने ही भीतर अपनी आत्मा के सौंदर्य को देख सकता है।"[1] पूर्ण आत्मत्याग के जावन में ही हम उच्चतर ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस ज्ञान के बिना, अस्थायी भावनाएं विवेक को दूषित कर देती हैं।

पश्चिमी विश्वविद्यालयों में दर्शन की जितनी प्रणालियां प्रचलित हैं, उनमें सर्वाधिक लोकप्रिय प्रणाली का नाम है 'लॉजिकल पॉज़िटिविज़्म'। इसमें सभी कथनों को दो विभागों, प्रयोगसिद्ध और अप्रयोगसिद्ध, में विभाजित किया गया है। कहा गया है कि अप्रयोगसिद्ध कथनों में बार-बार एक ही बात को दोहराया जाता है। इसके विपरीत प्रयोगसिद्ध कथन अनिश्चित हैं तथा इन्द्रियों द्वारा उन्हें सिद्ध किया जा सकता है। जो बातें पुनरुक्ति नहीं होतीं अथवा जिन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता, एकदम व्यर्थ होती हैं। अध्यात्मविद्या, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र भावनाजन्य हैं, तथ्यों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए इन्हें ज्ञान नहीं कहा जा सकता। इस सिद्धान्त में मान लिया गया है कि अनुभव केवल ऐन्द्रिकता और बौद्धिकता पर आधारित है। इसके विपरीत उपनिषदों में कहा गया है कि मानव की आत्मा की सीमा जागरितावस्था के अनुभवों तक ही नहीं है, क्योंकि ये अनुभव इन्द्रियग्राह्य तथ्यों तथा उनसे प्राप्त परिणामों पर निर्भर हैं। अनुभव अवर्णनीय भी होते हैं और शब्दों अथवा विचारों द्वारा उन्हें दूसरों तक नहीं पहुंचाया जा सकता। मानव में ऐसी क्षमताएं हैं जिनका पता उसे स्वयं नहीं है।

यदि ईश्वर का साक्षात्कार ही धर्म का लक्ष्य है, तो इस साक्षात्कार के लिए हमारे पास काफी समय होना चाहिए। एकान्त में ही मानव सर्वाधिक मानवीय होता है। किसी एकान्तसेवी की, जिसमें अपनी देखी हुई बातों और अनुभूतियों को व्यक्त करने की आदत नहीं है, अनुभूतियां अत्यन्त गहन हो सकती हैं। ये अनुभूतियां उस व्यक्ति की अनुभूतियों से अधिक अस्पष्ट होती हैं जिसका स्वभाव ही सामाजिक कार्यक्रमों में भाग लेना होता है। बहुत संभव है कि जिन दृश्यों अथवा प्रभावों को दूसरे लोग एक पलक झपकाकर, एक हलकी टिप्पणी करके अथवा मुस्कराकर टाल जाते हैं, उन्हींमें एकान्तसेवी का ध्यान उलझ जाता है। यह दृश्य अथवा प्रभाव चुपचाप पैठते जाते हैं, अर्थ ग्रहण करते जाते हैं, भावना का, अनुभव का रूप ग्रहण कर लेते हैं। विज्ञान और दर्शन, साहित्य और कला सभीमें वैचारिक अन्तर्दृष्टि एक अद्वितीयता, मौलिकता, वैयक्तिकता को जन्म देती है। अपने उच्चतम विचारों में, गहनतम चित्तवृत्तियों में मानव अकेला होता है।

धर्म यथार्थ का अनुभव है। अतः धार्मिक भावना और धार्मिक जीवन का

१. 'कठोपनिषद्' II, २०।

महत्त्व अधिक है, धार्मिक सिद्धान्तों का कम। धार्मिक संघर्षों से हमारा मतलब होता है ब्रह्मांड-सम्बन्धी सिद्धान्तों, ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्तों का संघर्ष। मूल धार्मिक अनुभव का सम्बन्ध विशेष सीमाओं में बंधे हुए विश्वास से नहीं है, वरन् वास्तविक मानवीय सम्बन्धों की दैनिक चुनौती के प्रति सम्पूर्ण आत्मा की गति के साथ है। जो परमात्मा का अनुभव कर चुके हैं, वे जानते हैं कि धर्म किसी प्रकार के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है। उन्हें ईश्वर की रहस्यमयता का आभास है और, रहस्यमयता का यही आभास सब प्रकार की धर्मान्धता का शत्रु है। इससे एक प्रकार की विनम्रता का जन्म होता है और यह विनम्रता मानवीय विवेक के प्रति अत्यधिक विश्वास नहीं होने देती। ज्ञान का अभिमान हमें छल नहीं पाता।

सभी विधान अकथनीय पर आधारित हैं। अस्तित्व विधेय नहीं है। अस्तित्व की परिभाषा नहीं की जा सकती, इसे तो केवल मान लिया जाता है। धर्म में जो कुछ मान लिया गया है, इतना सूक्ष्म और संयुक्त है कि उसे तर्कसंगत शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। विचारप्रसूत धारणाओं का विश्लेषण विवेक द्वारा किया जा सकता है किन्तु अस्तित्व का नहीं। अनिवार्यतः इसे किसी सिद्धान्त का रूप नहीं दिया जा सकता। यह विचारों से परे है।

उपनिषदों में ज्ञान की सीमा का उल्लंघन करने से इनकार किया गया है। "हम शब्दों, विवेक अथवा दृष्टि द्वारा उस तक नहीं पहुंच सकते। हम केवल यह कहकर उसे देख सकते हैं कि वह है।" ब्रह्म असीम है। उससे पहले या बाद में कुछ नहीं है। उससे बाहर भी कुछ नहीं है। जिन सारी वस्तुओं का अस्तित्व है, कभी रहा है या कभी रह सकता है, वे वस्तुएं उसी ब्रह्म में अन्तर्हित संभावनाओं की आंशिक और अपूर्ण लीलाएं हैं। यह ब्रह्म एक नहीं है और न सामान्य इकाई है, क्योंकि एक और इकाई की धारणाएं हमारे सीमित मस्तिष्कों की उपज हैं और ब्रह्म असीम है। इसे 'अद्वैत' और 'अद्वितीय' कहा गया है, क्योंकि इसके संदर्भ में इकाई और द्वितीयता का कोई अर्थ नहीं है। इसे केवल नकारात्मक ढंग से व्यक्त किया जा सकता है : 'न इति, न इति'।

सत्य एक सार्वभौम व्यवस्था का अंश है। यह व्यक्ति से परे है और वैयक्तिक प्रभावों अथवा स्थान और समय की अवस्थाओं से अप्रभावित रहता है। इन सारी बातों का सम्बन्ध बाह्य अभिव्यक्तियों से है, आन्तरिक वास्तविकता से नहीं। विश्वास, सम्मतियां, सिद्धान्त सभी अस्थायी और परिवर्तनशील हैं तथा उनके मूल्य बदलते रहते हैं। इसके विपरीत सत्य शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। 'श्रुति' और 'स्मृति' में यही अन्तर है। 'श्रुति' सीधी प्रेरणा है, विशुद्ध अन्तःप्रवृत्ति है और 'स्मृति' तर्कसंगत व्यवस्था में उसका प्रतिबिम्ब है। साधु आत्माओं में इतना

अनुशासन और पृथक्त्व होता है कि वे नग्न सत्य के दर्शन कर सकती हैं, किन्तु हम लोग तो सत्य को विभिन्न तर्कसंगत रूपों में ही देख पाते हैं। प्रत्येक धर्म का केन्द्र-बिन्दु सत्य एक और समान है। सिद्धान्तों में पारस्परिक अन्तर अवश्य है क्योंकि वे हैं मानवीय परिस्थितियों पर सत्य के प्रभाव से उत्पन्न। प्रत्येक युग में अपनी विशेषता होती है, जिसका पता उस युग की मान्यताओं से लगता है जो युग-विशेष में स्वयंसिद्ध मान ली जाती हैं। सत्य की अभिव्यक्ति किसी प्रकार के शब्दों में नहीं हो सकती, इसलिए सत्य को पूर्णतः परिभाषित नहीं किया जा सकता। सभी परिभाषाएं अनिवार्यतः अनुपयुक्त होती हैं और सच कहा जाय तो भ्रामक होती हैं। प्रत्येक फार्मूला, शब्दों और विचारों में सत्य को बांधने का प्रत्येक प्रयास—जो सीमित अर्थों में सत्य तथा समय और अवसर के अनुकूल होता है—वास्तव में चिन्तन-मनन के लिए एक आधार-मात्र है; उसकी सहायता से हम उसे समझने की ओर अग्रसर हो सकते हैं जिसे किसी फार्मूला, प्रतीक अथवा सिद्धान्त में बांधा नहीं जा सकता। सिद्धान्त उत्तरदायित्वहीन नहीं हैं। हम स्वेच्छा से विचार नहीं कर सकते। और न ही सिद्धान्त अनावश्यक हैं। जिस भाषा में सत्य की अभिव्यक्ति की जाती है, उसमें विभिन्न लोगों की आवश्यकतानुसार विकसित बोलियां होती हैं। वे एक लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक साधन मात्र हैं। अन्तर बहुत आकर्षक किन्तु अप्रधान हैं; इकाई ही यथार्थ है।

ज्ञान-प्राप्ति के एक लक्ष्य के अनेकानेक उपायों को मान्यता भी दी गयी है। प्रत्येक उपाय का आरम्भ वहीं से हो जाता है जहाँ मानव स्वयं को पाता है। हिन्दू और बौद्ध सिद्धान्त व्यापक और सार्वभौम हैं। वे प्रत्येक मानव की आध्यात्मिक आवश्यकताओं और क्षमताओं के अनुकूल हैं। सत्य को पहचानने तथा उस तक पहुंचने के रास्ते अनेक हैं। किसी विशेष विधि को अपनानेवाले लोग उसी-को अन्तिम और एकमात्र समझने लगते हैं। किन्तु जब वे गहन सत्य के दर्शन कर पाते हैं तब उन्हें आभास होता है कि जितना विशाल सत्य स्वयं है उतने ही चौड़े उस तक पहुंचने के पथ हैं। धार्मिक कृत्यों, उत्सवों, प्रणालियों और सिद्धांतों द्वारा उनके परे एक सुस्पष्टता के क्षेत्र में पहुंचा जा सकता है, और इसलिए इनके द्वारा केवल सापेक्ष सत्य के दर्शन होते हैं। इनका महत्त्व उचित स्थान पर ही है। इन्हें परम सत्य समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। ये सत्य की छाया-मात्र को प्रदर्शित करते हैं। ये इंगित करते हैं, परिभाषित नहीं। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक विचार एक निर्देशक है जो अपने से परे की ओर संकेत करता है। संकेत को संकेतित वस्तु समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। दिशासूचक पट्टी गंतव्य नहीं होती।

परब्रह्म का प्रतिबिम्ब इस ब्रह्मांड पर है, इसीलिए यह पवित्र है। यह ईश्वर का मन्दिर है, और ईश्वर 'पृथ्वी में उपस्थित होते हुए भी पृथ्वी से अलग है, पृथ्वी उसे नहीं पहचानती, वह आन्तरिक प्रकाश है, शाश्वत है।'[1] अंधी शक्तियों और संघर्ष से ब्रह्मांड को मुक्ति ईश्वर द्वारा मिलती है।

मानव की तार्किक प्रवृत्ति से अधिक ज़ोर आध्यात्मिक प्रवृत्ति पर दिय जाता है। मानव ईश्वर की चेतना का उत्तराधिकारी है। उसके भीतर सृजन की प्रेरणा है, जो उसकी स्वतंत्रता का लक्षण है। वह स्वयं को स्वयं से ऊपर उठा सकता है। वह अनिवार्यतः कर्ता है, कर्म नहीं। यदि हम मानव को केवल पार्थिव अथवा परिवर्तनशील विचारों वाला प्राणी समझें, तो हम समझ नहीं सकेंगे कि मानव को अनिवार्यतः सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता, क्योंकि वह ईश्वर का प्रतिरूप है और ईश्वर के समान है तथा एक नैसर्गिक आवश्यकता का उत्पादन-मात्र नहीं है। वह ब्रह्मांड की प्रक्रिया का व्यर्थ पदार्थ नहीं है। वह आध्यात्मिक प्राणी है, और इसलिए वह नैसर्गिक और सामाजिक संसार के स्तर से ऊपर है। मानव का स्वाभाविक जीवन प्रारंभ होता है, तभी उसके आध्यात्मिक अस्तित्व का पता चलता है।

प्रकृति आत्मा की विरोधी नहीं है। प्रकृति के साथ लगाव और आध्यात्मिक गौरव का संयोग नहीं बैठता। वैराग्य आनन्द का नहीं मोह का विरोधी है। प्रकृति की सीमाओं को न मानना हमारे लिए आवश्यक नहीं। हमारे शरीर ईश्वर के मन्दिर और 'धर्म-साधन' हैं। आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य और भौतिक जीवन में कोई वैर नहीं। प्राचीन विचारकों ने अस्तित्व की महान शृंखला, ब्रह्मांड की मान्यताप्राप्त रचना तथा जीवन और अस्तित्व के सभी स्तरों की पारस्परिक प्रक्रिया पर सदैव ज़ोर दिया है।

परमात्मा के समक्ष आत्मा के सम्पूर्ण समर्पण, आत्मा और परमात्मा के अवर्णनीय संयोग को अनेक चित्रों में व्यक्त किया गया है : "जैसे अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं और फिर अग्नि में वापस चली जाती हैं, जैसे समुद्र के बादलों से बनी नदियां फिर समुद्र में चली आती हैं।"

जब मानवों का स्पष्ट ज्ञान होता है, जब वे जागरित होते हैं, तब उन्हें अनुभव होता है कि किसी अकथनीय ढंग से, वे परमात्मा की अभिव्यक्ति के उपकरण मात्र हैं, परमात्मा के 'वाहन' हैं। यह अनुभव करने के बाद हम वैयक्तिकता से ऊपर उठ जाते हैं और अपने सहयोगियों का पक्ष ग्रहण करने लगते हैं, क्योंकि हम और हमारे सहयोगी सभी एक ही परमात्मा की अभिव्यक्ति हैं। हम परमात्मन्

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, III ७, ३।

के उपकरण बन जाते हैं और प्रेम, सद्भावना तथा करुणा से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं।

हिन्दू धर्म में सक्रिय करुणा, विनम्रता और मानवीय कोमलता का बड़ा महत्त्व है। हिन्दू धर्म की मानवता का प्रसार पशुओं के लिए भी है। बुराई के साथ संघर्ष में शक्ति को नहीं वरन् प्रेम के उपयोग की बात कही गयी है। बुराई को पराजित करने के बुरे प्रयत्नों से बुराई की ही विजय होती है।

सैद्धान्तिक रूप से सभी मानवों का अलग-अलग अद्वितीय मूल्य स्वीकार किया गया है, किन्तु सामाजिक ढांचे में उसकी प्रतिक्रिया का पता नहीं लगाया गया है। पश्चिम में पूर्व से अधिक वास्तविक समानता है। व्यापक व्यक्तिगत अन्तरों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से जाति-प्रथा का जन्म हुआ था, किन्तु अब यह विशेषाधिकार और असभ्यता का प्रतीक बन गई है। केवल जन्म या अवसरों की कमी के कारण अनेक व्यक्तियों को कठोर परिश्रम, यंत्रणा और दुःखपूर्ण जीवन बिताना पड़ता है। इसके विपरीत अनेक व्यक्ति किसी प्रकार भी अधिक योग्य न होते हुए भी आसान, सुखी और सुविधाओं से भरा-पूरा जीवन व्यतीत करते हैं। संवेदनशील व्यक्तियों के मन में इससे घृणा उपजती है। इस निर्जीव जाति-व्यवस्था के कारण अनेक व्यक्ति अन्धविश्वास के शिकार हो गए हैं, ऐसे धार्मिक संस्कार मानते हैं जिन्हें वे कतई नहीं समझते। जाति-व्यवस्था मानव में निहित देवत्व के आदर्श के सर्वथा विपरीत है। यह सिद्धान्त उन तानाशाहों के प्रयत्नों का समर्थन नहीं करता जो हम सबको समान बना देना और यदि संभव हो तो एक कर देना चाहते हैं। हम बिलकुल एक नहीं हो सकते क्योंकि हम अलग-अलग जन्मते और मरते हैं और यही कारण है कि हम तानाशाही रास्तों से हमेशा भागते रहेंगे।

मानव में देवत्व का निवास है—इस सिद्धान्त को मानने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, मुक्ति से परे नहीं है। कोई ऐसी जगह नहीं है जिसके द्वार पर लिखा हो : "भीतर प्रवेश करनेवालो, सारी आशा छोड़ दो।" बिलकुल बुरे व्यक्ति नहीं होते। उनके चरित्र को उनके जीवन के संदर्भ में देखना होगा। पापात्मा संभवतः बीमार व्यक्ति हैं, जिनका प्रेम लक्ष्यभ्रष्ट हो गया है। सभी मानव अमरत्व की सन्तानें, 'अमृतस्य पुत्राः', हैं। प्रत्येक के भीतर, उसके अंश के समान, उसके व्यक्तित्व के भीतरी स्तर के अंश के रूप में आत्मा मौजूद है। अनेक व्यक्तियों की आत्मा कठोरता और निर्दयता के मलबे के नीचे छिपे खज़ाने के समान दबी होती है, लेकिन होती अवश्य है। और जीवित तथा सक्रिय होती है और प्रथम उपयुक्त अवसर पर उभरने को तत्पर होती है।

मुक्ति अपने-आप नहीं मिल जाती, यह हमारे प्रयत्नों पर निर्भर है। कहा जाता है कि प्रयत्न करके हम मुक्ति नहीं पा सकते, यह तो परमात्मन् का स्वतंत्र उपहार है और इसे समझ न पाना ही नरक है। भारतीय विचार के अनुसार प्रत्येक मानव का कर्तव्य ही मोक्ष प्राप्त करना है। करुणा किसी दूरस्थ देवता की देन-मात्र नहीं है।

उपनिषदों में परमात्मन् और वैयक्तिक ईश्वर के बीच, शाश्वत के अन्तिम सत्य और नश्वर अस्तित्व के सापेक्ष सत्य के बीच अन्तर स्पष्ट बताया गया है। कहा गया है कि मानव के आन्तरिक विकास का अर्थ है जीवन के भौतिक स्तर से आध्यात्मिक स्तर की ओर प्रयाण। उनमें आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने के ढंग बताये गए हैं। ये ढंग परिवर्तनशील हैं, निरन्तर हैं और इनसे सिद्ध होता है कि सत्य पर किसीका एकाधिकार नहीं।

५. बौद्ध धर्म

छठवीं शताब्दी ईसापूर्व में सारे संसार में खूब जागृति हुई। चीन में कन्फ्यूशियस, यूनान में पाइथागोरस तथा भारत में महावीर और बुद्ध इसी काल में हुए। बुद्ध का सिद्धान्त उपनिषदों के सत्यों का ही पुनःकथन है, जिसपर नये ढंग से ज़ोर दिया गया है। धर्म को उन्होंने 'धम्म' कहा और बताया कि ज्ञान-प्राप्ति का उपाय यही है।

परमात्मन् को बुद्ध ने 'प्रज्ञा' और 'करुणा' से भरे-पूरे जीवन में देखा। किन्तु यथार्थ के सिद्धान्तों का प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया। अपने अनुभवों के सम्बन्ध में वे सर्वथा मौन रहे। उन्होंने उस पथ का निर्देश किया, जिसपर अबाधरूप से चलकर हम भी उस स्थिति पर पहुंच सकते हैं जहां वे स्वयं हैं और वह सब देख सकते हैं जो उन्होंने देखा है। हमें उनके ज्ञान के प्रमाण नहीं मांगने चाहिए, किन्तु आवश्यक परिश्रम करके वह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तप में सम्पूर्ण मानव को बदल डालने और वस्तु के साथ एकाकार कर देने की शक्ति है।

उपनिषदों के मोक्ष के विपरीत 'निर्वाण' का आदर्श है। बुद्ध का अष्टमार्ग वैदिक धर्म का ही दूसरा रूप है, उपनिषदों के दया, दम और दान के सिद्धान्त का प्रकारान्तर है। प्रत्येक बोधिप्राप्त व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह नीचे गिरे हुए प्रत्येक अन्य व्यक्ति की ज्ञानप्राप्ति में सहायक हो। हम चाहें या न चाहें, जानें या न जानें, हमारे भीतर देवत्व अवश्य है और मानव-जीवन का लक्ष्य बुद्धत्व प्राप्त करना ही है।

मातृसेन (पहली शताब्दी ईस्वी) ने बुद्ध का वर्णन निम्न शब्दों में किया है :

"बुरा चाहनेवाले शत्रु के लिए भी तुम भला चाहनेवाले मित्र हो। हमेशा दोष निकालनेवाले में भी तुम गुणों की खोज करते हो।" "तुमने रद्दी भोजन किया, कभी-कभी तुम भूखे रहे, कठोर रास्तों पर चले, जानवरों द्वारा रौंदे गए, कीचड़ पर सोए। तुम स्वामी थे, किन्तु तुमने बोधिप्राप्ति में दूसरों की सहायता करने के लिए अपमान सहे, अपने वस्त्र और वचन बदले।"[1] चौथी शताब्दी ईस्वी के बौद्ध दार्शनिक असंग ने बुद्ध की करुणा के विषय में कहा है : "बोधिसत्त्व सभी प्राणियों को उसी प्रकार प्रेम करते हैं जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने एकमात्र पुत्र को प्रेम करता है। जिस प्रकार चिड़िया अपने बच्चों को चाहती है और उनकी देखभाल करती है, उसी प्रकार का व्यवहार बोधिसत्त्व सभी प्राणियों के साथ, जो उनके अपने बच्चे हैं, करते हैं।" उनका कथन है कि "दुःखी, क्रोधी, असंयमी, वासना के दास, तथा गलती करनेवाले सभी के प्रति करुणा रक्खो।" शान्तिदेव हमें 'बुरे से बुरे शत्रुओं की भी भलाई करने' की सलाह देते हैं। जापानी उपदेशक होनेन (११३२-१२१२ ईस्वी) ने अमिताभ (अमिदा—जापानी) की उपासना का आदेश दिया है : "कोई भी ऐसी झोंपड़ी नहीं है जहां चन्द्रमा की रुपहली किरणें न पहुंच सकें। कोई ऐसा आदमी भी नहीं है जो अपने विचारों को उन्मुक्त करने के पश्चात् दैवी सत्य को न पहचान सके और उसे हृदयगत न कर ले।"

हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों में प्रकाश और अंधकार के साम्राज्यों अर्थात् स्वर्ग और नरक का अन्तर अस्थायी है। परमात्मा की परम शक्ति, उसके सार्वभौम प्रेम की पराजय नहीं होती। हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों का लक्ष्य है, सम्पूर्ण मानवता की मुक्ति। महायान बौद्ध धर्म के अनुसार, बुद्ध ने जान-बूझकर बोधि की अन्तिम अवस्था को प्राप्त नहीं किया; ताकि वे राह के अन्य लोगों की सहायता कर सकें। उन्होंने प्रण किया है कि जब तक सारी सृष्टि, धूल का प्रत्येक कण लक्ष्य तक नहीं पहुंच जाएगा, वे निर्वाण नहीं लेंगे।

इसका अर्थ यह नहीं कि हिन्दू और बौद्ध धर्म-सिद्धान्तों में भलाई और बुराई, गुण और दुर्गुण में अन्तर ही नहीं समझा जाता। इसका अर्थ केवल इतना है कि बुराई के लिए भी अच्छी संभावनाएं हैं। कर्म-सिद्धान्त यही है कि आत्मा को एक के बाद एक अनेक आध्यात्मिक अवसर प्राप्त होते हैं। यदि मानवों को केवल एक अवसर दिया जाय तो एक जीवन के अन्त में, अच्छाई के बल पर मुक्ति और बुराई

---

१. कदन्नान्यपि भुक्तानि, क्वचित् क्षुदधिवासिता।
पन्थानो विषमाः क्षुण्णाः, सुप्तं गोकण्ठकेष्वपि॥ ११५
प्राप्ताः क्षेपावृताः सेवा, वेशभाषान्तरं कृतम्।
नाथ वैनेयवात्सल्यात्, प्रभुनापि सता त्वया। ११६ शतपञ्चाशत्क

के बल पर नरक की अग्नि, प्राप्त हो जाएगी। और यदि ईश्वर में अनन्त प्रेम और अनन्त करुणा है तो यह सम्पूर्ण सिद्धान्त ही ठीक नहीं है।

और यह तो सुप्रसिद्ध है कि ईसाई सन् के प्रारंभ से पहले तिब्बत, बर्मा, नेपाल, कम्बोडिया, अन्नाम, चीन और जापान (पूर्वी देशों) में तथा अफगानिस्तान, पामीर, तुर्किस्तान, सीरिया और फ़िलिस्तीन (पश्चिमी देशों) में तनिक भी रक्तपात किए बिना बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ।

तीसरी शताब्दी ईसापूर्व से इण्डोचीन, इण्डोनीशिया, मलय प्रायद्वीप आदि क्षेत्रों में 'धर्म-विजय' का प्रारम्भ हुआ। हिन्दू संस्कृति बहुत पहले समय में ही जावा में स्थापित हो गयी। वहां बोरोबुदुर के मन्दिर और 'रिलीफ़' आज भी मौजूद हैं। कम्बोडिया में, अंगकोर-वाट के विशाल मन्दिर का निर्माण लगभग १०९० ईस्वी में प्रारंभ और उसके ५० वर्ष बाद समाप्त हुआ। भारतीय उपनिवेशों के नाम बौद्ध ग्रंथों में पाए जानेवाले नामों जैसे चम्पा, काम्बोज और अमरावती—पर रख दिए गए। ठीक इसी प्रकार अमरीका में सबसे पहले बसनेवाले यूरोपीय अपने साथ बोस्टन, कैम्ब्रिज और सिराक्यूज़ जैसे नाम ले आए। इस बृहत्तर भारत में भी बौद्ध और ब्राह्मणधर्मों का प्रसार हुआ और भारत के समान वहां भी दोनों में एक सामंजस्य स्थापित हो गया। उत्तरी भारत के अन्तिम शासक सम्राट हर्ष[1] (६०६–६४७ ईस्वी) ने शिव और बुद्ध के मन्दिरों का निर्माण कराया।

भारत में बौद्ध धर्म के लोप हो जाने का कारण यही है हिन्दू और बौद्ध धर्म एक प्रकार से आपस में मिल गए, विशेष रूप से तब, जब दोनों धर्मों में अन्धविश्वासों का बाहुल्य हो गया। कुछ बौद्ध सम्प्रदायों ने कहना आरंभ किया कि निर्वाण-प्राप्ति का केवल एक उपाय है। यह विचार भारतीय धार्मिक चेतना की लचीली, अनेकरूपिणी, संश्लिष्ट बौद्धिकता के सर्वथा विपरीत था। भारतीय धर्म ने इस 'एकमात्र' सिद्धान्त को ठुकरा बौद्ध धर्म की प्रमुख शिक्षाओं को ग्रहण कर लिया और इस प्रकार परम्परा को बनाए रखा। अनेक महान दर्शन-प्रणालियां, महान साहित्य, कलात्मक प्रगति, वैज्ञानिक विकास और अपरिमित राजनीतिक सक्रियता इस युग की विशेषताएं थीं। दक्षिण भारत के विचारकों—

---

१. जावा में बुद्ध शिव के छोटे भाई के रूप में पूज्य थे। लगभग १३०० ईस्वी के एक जावाई सम्राट का नाम 'शिव बुद्ध' था। काम्बोज के एक द्विभाषीय शिलाअभिलेख (लगभग १२०० ईस्वी) में वृक्षराज 'अश्वत्थ' की आराधना है। 'अश्वत्थ' की जड़ ब्रह्मा है, तना शिव और डालियां विष्णु।

शंकर, रामानुज, माधव—ने उत्तर और दक्षिण आर्य और द्रविड़, को संस्कृति के एक सूत्र में बांध दिया और भारतीय राष्ट्रीय एकता की नींव रखी।

६. पारसी धर्म

मुसलमानों के अत्याचारों के कारण अपने देश से निकलकर पारसी धर्म के अनुयायियों ने भारत में शरण पायी। एक पारसी इतिहासकार का कथन है: "फ़ारसी या पारसी शरणार्थियों को अगणित कष्ट सहने पड़े। यहां तक कि वे लगभग विनष्ट हो गए। तब कहीं जाकर वे भारत के तट पर पहुंच सके। वहां एक हिन्दू शासक ने उन्हें शरण दी और घर बसाने का अधिकार दिया।"[१] अनुमान है कि सन् ७१६ ईस्वी के आसपास पारसी लोग संजन के पास उतरे थे और अग्नि देवता का उनका पहला मन्दिर एक हिन्दू शासक की सदाशयता के बल पर वहीं बना था। पारसी धर्म दूसरे धर्मावलम्बियों का मन-परिवर्तन कराने वाला मत न था। यह दूसरे धर्मों को पनपने का पूरा अवसर देने का हामी था।

७. इस्लाम

पारसी शरणार्थियों के रूप में भारत आए थे, किन्तु मुसलमान और ईसाई विजेताओं के समान आए। इस्लाम के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण सहिष्णु था। अत्यधिक प्राचीन समय से अरबों के साथ भारत के निकटतम सम्बन्ध—विशेष रूप से व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध थे, और दोनों देशों के बीच स्थल और जल-मार्ग स्थापित थे। हिन्दू शासकों ने भारत में मुसलमानों का स्वागत किया और उन्हें मसजिदें बनाने तथा अपने मत का प्रचार करने की आज्ञा दी। भारतीय विचारधारा लोगों को जीवन के किसी विशेष रास्ते पर चलने को बाध्य नहीं करती। वह भारत-भूमि पर रहनेवाले हर समुदाय को प्रेरित करती थी कि वह अच्छे जीवन की अपनी परिभाषा के अनुसार जीवन-यापन करे। पन्द्रहवी शताब्दी के लगभग मध्य में भारत-स्थित फारस के शाह के राजदूत अब्दुल रज़ाक ने लिखा है: "यहां (कालीकट) के निवासी क़ाफ़िर हैं; इसलिए मैं सोचता हूं कि मैं शत्रु-देश में हूं, क्योंकि क़लमा न पढ़नेवाले हर आदमी को मुसलमान अपना दुश्मन समझते हैं। फिर भी, मैं स्वीकार करता हूं कि यहां पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता है, यहां तक कि हमें बढ़ावा भी मिलता है। हमारी दो मसजिदें हैं, और हम सार्वजनिक रूप से नमाज़ पढ़ सकते हैं।"[२]

---

१. कराका: 'हिस्टरी ऑफ़ द पारसीज़' (१८८४), खंड १, पृष्ठ १५।
२. मेरे: 'डिस्कवरीज़ ऐण्ड ट्रैवेल्स इन एशिया', खण्ड २, पृष्ठ २०।

देश में इस्लाम के प्रसार के साथ-साथ रामानन्द और कबीर, रामदास और दादू, तुकाराम और तुलसीदास, तथा नानक और चैतन्य के सिद्धान्तों में आस्तिकता की भावना प्रबल होती गई। हिंदू और मुसलमान विश्वासों में समझौता कराने की कोशिश सन्त-महात्माओं के अतिरिक्त शहंशाह अकबर ने भी की; उन्होंने इस्लाम की कट्टरता को भी कम किया था। अकबर का मस्तिष्क चिन्तनशील था और हृदय कोमल। उनकी घोषणा है: "सभी धर्मों में समझदार आदमी तथा सभी राष्ट्रों में संयमशील विचारक और रहस्यमय शक्तियुक्त व्यक्ति होते हैं।" आगे उनका कहना है: "अपनी परिस्थिति के अनुसार हर आदमी परमात्मा का नाम रखता है, किन्तु, वास्तव में, उस अज्ञेय की संज्ञा निर्धारित करना गलत है।"[1] जहांगीर ने हिन्दू संन्यासी जद्रूप के बारे में लिखा है कि, "उन्हें वेदांत विज्ञान, अर्थात् सूफीवाद के विज्ञान का पूर्ण ज्ञान था।"[2] शाहजहां का सबसे बड़ा पुत्र दाराशिकोह एक ऐसे ग्रन्थ का रचयिता था, जिसमें सिद्ध किया गया था कि हिन्दू और मुसलमान मतों में अन्तर केवल भाषा और शैली का है।

इस्लाम को ईरानी बुद्धिजीवियों का व्यापक, विलक्षण, सतेज और शिष्ट योगदान मिला था। इस्लाम-पूर्व पारसी धर्म और मानिकीवाद व मिथ्रवाद जैसे आदिकालीन धर्म-सम्प्रदायों ने फारस में इस्लाम पर बड़ा प्रभाव डाला। इस्लाम का सूफी सम्प्रदाय—जिसके प्रसिद्ध सन्त हैं अत्तार, सादी, जलालुद्दीन रूमी और हाफ़िज़—भारतीय अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त समीप है। इस्लाम की विशेषता है अल्लाह को विशेष दूरी पर मानना। इसके विपरीत सूफीमत में उसकी करुणामय उपस्थिति मानव की आत्मा के अत्यन्त निकट मानी गई है। सूफीमत का विश्वास अद्वैत परमेश्वर में है, परमेश्वर को प्रकाश माना गया है और सम्पूर्ण विश्व उसका प्रतिबिम्ब। ज़ोर देकर कहा गया है कि मानव की आत्मा अपने सर्जक से अलग हो गई है, और भीतर-भीतर सदा चाहती है कि अन्य आकर्षणों के बावजूद वापस जाकर उसीमें लय हो जाय। अल-गज़ाली के कृतित्व में हमें कट्टर धर्मशास्त्र और भक्तिमय अध्यात्मवाद का समन्वय मिलता है। सूफी मांसाहारी नहीं हैं और पुनर्जन्म तथा अवतार में विश्वास करते हैं। कहा जाता है कि सत्रहवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध सूफी सन्त सब्जनी 'मांस नहीं खाते थे, मसजिदों की पवित्रता मानते थे, मन्दिरों में होनेवाले हिन्दू धार्मिक अनुष्ठानों के समान अनुष्ठान मसजिदों में करते थे और मुसलमानों के समान सिजदा करते व नमाज़ पढ़ते थे।"[3] उनकी

१. विंसेण्ट स्मिथ: 'अकबर द ग्रेट मुग़ल' (१८१७), पृष्ठ ३४९-५०।

२. 'मेमॉयर्स ऑफ़ जहाँगीर' (अंगरेजी अनुवाद), अनुवादक: बेवरिज, खण्ड १, पृष्ठ ३५६।

३. 'दबिस्तान' (अंग्रेजी अनुवाद), अनुवादक: शी और ट्रायर, खंड २, पृष्ठ २०१-२।

जीवन-विधि उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दू सन्त स्वामी रामकृष्ण के समान थी।

रूमी ने उपासना की स्वतंत्रता के पक्ष में लिखते समय प्राचीन हिन्दू विचार-धारा की परम्परा को ही निभाया है। वे लिखते हैं :

"चिराग अलग-अलग हैं, लेकिन रोशनी एक : वह कहीं दूर से आती है।
यदि कोई चिराग को ही देखता रह गया तो उसका बेड़ा गर्क हो जाएगा; क्योंकि वहीं से अनेकता का प्रारंभ होता है।
रोशनी को गौर से देखने पर ही पार्थिव शरीर में निहित द्वैतावस्था से मुक्ति मिलती है।
हे ईश्वर, तुम सम्पूर्ण सृष्टि के सार हो। और मुसलमानों, पारसियों व यहूदियों में अन्तर सिर्फ दृष्टिकोण का है।
कुछ हिन्दुओं ने एक हाथी खरीदा और उसे एक अंधेरे कमरे में खड़ा कर दिया। उसे देख पाना असम्भव था, इसलिए हर कोई उसे हथेली से छूकर महसूस करने लगा।
एक का हाथ हाथी की सूंड पर पड़ा। उसने कहा : 'यह जानवर तो पानी के नल की तरह है।'
दूसरे ने उसका कान छुआ। उसे हाथी पंखे जैसा मालूम पड़ा।
तीसरे ने उसकी टांग छुई और बताया कि उसका आकार खंभे जैसा है।
चौथे ने उसकी पीठ थपथपाई। बोला, 'अरे, यह तो तख्त जैसा है।'
अगर उनमें से प्रत्येक आदमी ने एक जलती हुई मोमबत्ती ले ली होती, तो उनके वर्णन में भिन्नता न होती।"[1]

इस्लाम का भारतीय रूप हिन्दू विश्वासों और आचारों द्वारा गढ़ा गया है। शियामत सुन्नीमत की तुलना में हिन्दूधर्म के अधिक समीप है। खोजाओं के सिद्धांत वैष्णव और शिया सिद्धान्तों के मिश्रण से निर्धारित हैं; उनका विश्वास है कि अली विष्णु का दसवां अवतार है। भारत में अनेक वर्णसंकर जातियां हैं। बाद में, जब विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत पर हमले किए तो भारतीय मुसलमानों ने हिन्दुओं के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर उनका सामना किया। फिर जब वे आक्रमणकारी भी भारत में बस गये, तब भी छोटी-मोटी लड़ाइयां होती रहीं। अनेक उदाहरण हैं जब मुसलमानों के नेतृत्व में हिन्दुओं ने या हिन्दुओं के नेतृत्व में मुसलमानों ने लड़ाइयां लड़ीं। भारतीय मुसलमान भारतीय भाषाएं बोलने लगे, एक ही जाति के वंशज बने और भारतीय व्यापारिक समुदायों में

१. 'रूमी, पोएट ऐंड मिस्टिक' (१९५०), पृष्ठ १६६ (जार्ज एलेन ऐंड अनविन), अंग्रेज़ी अनुवाद, आर० ए० निकलसन द्वारा।

सम्मिलित हो गये। कभी-कभी तो प्रत्येक समुदाय में हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद करना उतना ही मुश्किल हो जाता था जितना आज है—अपने वस्त्र, आचार-व्यवहार और विचारों में इतनी अधिक समानता दोनों में आ गई थी। मुगलों के शासनकाल में शाही दरबार हिन्दू और मुसलमान विद्वानों के मिलन-स्थल बन गए, जहां वे एक-दूसरे को अपनी-अपनी संस्कृतियों से परिचित कराते थे। ग्यारहवीं शताब्दी में श्रेष्ठ मुसलमान विद्वान अलबेरुनी ने संस्कृत भाषा पर विशेष योग्यता प्राप्त कर ली। उनके विवरण से हमें पता चलता है कि विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में हिन्दुओं की कितनी अपूर्व उपलब्धियां थीं। भारत की विवेकशीलता एवं सहनशीलता की प्रवृत्ति ने मुगलों को प्रभावित किया और चौदहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक की सांस्कृतिक गतिविधियों में हिन्दू-मुसलमान सहयोग स्पष्ट है। संगीत और स्थापत्य, चित्रकला और नृत्य में हिन्दू और मुसलमान विचारों का उत्कृष्ट समन्वय था। साहित्य, कला, सामाजिक रूपरेखा और धार्मिक सहिष्णुता की परम्परा में भारत के हिन्दू और मुसलमानों का अतीत समान है।

८. ईसाई धर्म

ईस्वी सन् के प्रारम्भ से ही भारत में ईसाई धर्म का प्रचार है। मलाबार के सीरियाई ईसाइयों का विश्वास है कि उनका ईसाई धर्म सीधे सन्त टामस से प्रारंभ हुआ है। उनका कहना है कि उनके ईसाई धर्म का स्वरूप पश्चिम के सेंट पीटर और सेंट पाल द्वारा स्थापित ईसाई धर्म के स्वरूप से भिन्न और स्वतंत्र है। तीसरी शताब्दी के एक धार्मिक ग्रंथ 'द ऐक्ट्स ऑफ टॉमस' में लिखा है कि धर्मदूत टॉमस भारत नहीं जाना चाहते थे, लेकिन ईश्वर ने ऐसी माया रची कि भारत के शासक गोंडोफारेस के प्रतिनिधि अवानेज़ के हाथों उन्हें गुलाम के रूप में बेच दिया गया। पहले तो इस पूरी कहानी को कल्पित समझा जाता रहा; फिर भारत के उत्तरी-पश्चिमी कोने में एक मुहर सन् १८३४ में मिली, जिसपर गोंडोफारेस का नाम खुदा हुआ था। इससे हम यह निष्कर्ष तो नहीं निकाल सकते कि धर्मदूत टॉमस पहली शताब्दी में भारत गये थे—हालांकि यह असंभाव्य नहीं—लेकिन यह तो सोच ही सकते हैं कि तीसरी शताब्दी से फारस और मेसोपोटामिया के ईसाइयों के साथ भारत के निकट सम्बन्ध थे। इतना स्पष्ट है कि बहुत पुराने समय से भारत के पश्चिमी तट पर ईसाई आबाद रहे हैं। हिन्दू उनका बड़ा सम्मान करते थे, और हिन्दू शासक उनके लिए गिरजाघरों का निर्माण कराते थे। राइट रेवरेंड स्टीफ़ेन नील ने, जो कुछ समय तक टिनेवेल्ली के बिशप रहे थे, 'स्पेक्टेटर'

में लिखा है : "सीरियाई लोगों की बराबरी हिन्दू ज़मींदारों की जाति नायर लोगों के साथ है, वे स्वयं को अन्य हिन्दू जातियों से ऊंचा और परिगणित जातियों से तो बहुत ऊंचा समझते हैं।" आरम्भ के ईसाई अपने को सामान्य हिन्दू समाज का ही अनिवार्य अंग समझते थे और धर्म-परिवर्तन के विरोधी थे।

ईसाई धर्म में परिवर्तन के लिए मिशनरी प्रचार भारत में यूरोपियों के बसने के साथ-साथ प्रारंभ हुआ। पूर्व में धर्म प्रचार करनेवाले महान ईसाई मिशनरियों में से एक थे फ्रांसिस ज़ेवियर, जिन्हें अपने मिशन की दैवी प्रकृति पर अटूट विश्वास था। उन्होंने पूर्व के अनेक देशों में अपने धर्म का प्रचार किया। उन्होंने बादशाह जोआओ द्वितीय को लिखा था : "अपने अधिकारियों के सम्मुख आप यथासंभव स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दें…कि आपके क्रोध से बचने और आपका अनुग्रह प्राप्त करने का केवल यही रास्ता है कि जिन देशों पर वे शासन करते हैं वहां अधिक से अधिक लोगों को ईसाई धर्म की दीक्षा दें।"

हिन्दू विचारधारा के अनुसार ईसाई धर्म को प्रस्तुत करने के फ़ादर द नोबील के प्रयत्नों को बढ़ावा नहीं मिला और इसके बाद तो ईसाई मिशनरी हिन्दू विश्वासों के साथ तनिक-सी भी प्रत्यक्ष समानता को जानबूझकर नज़रअंदाज़ करने लगे। पुर्तगाल की शक्ति का ह्रास और डच तथा अंग्रेज शक्तियों के उदय के पश्चात् व्यापार ही मुख्य ध्येय हो गया और प्रोटेस्टैंटों को कैथलिक चर्च की गतिविधियों के साथ कोई हमदर्दी न रही। ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने अधिकृत क्षेत्र में मिशनरी प्रचार को बढ़ावा नहीं देती थी। जब यूरोप के प्रोटेस्टैंट चर्च में धर्मप्रचार की प्रवृत्ति जागी तो भारत में मिशनरी कारनामे भी बढ़ गये। नई संस्थाएं स्थापित हुई और हिन्दू धर्म के विरुद्ध प्रचार इतना तीव्र हो गया कि लार्ड मिण्टो को हिन्दू धर्म-विरोधी सारे उपदेश रोक देने पड़े। उन्होंने बोर्ड आफ़ डायरेक्टर्स के चेयरमैन को लिखा : "हिन्दुओं को लक्ष्य करके जो घटिया बातें लिखी जाती हैं, कृपया उन्हें पढ़िये। इनमें अ-ईसाई पाठक के मस्तिष्क को सन्तुष्ट करने या विश्वास दिलाने लायक एक भी शब्द नहीं होता, किसी भी प्रकार का तर्क नहीं प्रस्तुत किया जाता, बल्कि घृणा की आग सुलगती रहती है और एक सम्पूर्ण मानव-जाति को दोषी ठहराया जाता है—क्योंकि वह पीढ़ियों से चले आ रहे धर्म में विश्वास करती है, और अपने धर्म की सत्यता पर अविश्वास नहीं करती। क्या हमारे धर्म की यही नीति है?" १८१३ में कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया तो मिशनरियों के करतबों को फिर से बढ़ावा मिला। भारत के प्रमुख नगरों में ईसाई शिक्षण-संस्थाएं स्थापित हुई, और ईसाई धर्म-प्रचार के मामले में सरकारें उत्साह दिखाने लगीं।

हिन्दू-पुनरुत्थान, राष्ट्रीयता के विकास और पश्चिम में धर्म के घटे महत्त्व ने ईसाई नेताओं को बाध्य कर दिया कि वे भारतीय संस्कृति को समझें और ईसाई धर्मोपदेशों में उसका समावेश करें। गांधीजी के नेतृत्व में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने छुआछूत को मिटाना अपना एक प्रमुख उद्देश्य बना लिया, तो परिगणित जातियों को हिन्दूधर्म से अलग करने की आशाएं कम हो गईं।

सामान्य हिन्दू ईसाई धर्म को सहानुभूतिपूर्ण समझना और उसके गुण-दोष परखना चाहता है। ईसाई धर्म हमारे देश में ईसा की दूसरी सदी से है। इसे विदेशी होने के नाते प्राप्त अधिकारों के साथ-साथ देशवासियों के अधिकार भी प्राप्त हैं।

धर्म-परिवर्तन के फलस्वरूप ईसाई धर्म ग्रहण करनेवाले अपेक्षाकृत बाद के लोग स्वयं को भारत की महान संस्कृति का उत्तराधिकारी मानते हैं। अपेक्षाकृत अधिक साहसी भारतीय ईसाई नेता प्रयत्न कर रहे हैं कि उत्तराधिकृत भारतीय आध्यात्मिक परम्परा और गृहीत ईसाई सिद्धान्तों में एक प्रकार का समन्वय स्थापित हो जाए; ऐसा ही समन्वय अरस्तू की परम्परा और ईसाई धार्मिक विश्वासों के बीच यूरोप के श्रेष्ठ धर्माधिकारी विचारक स्थापित कर पाए थे। ईसाई धर्म पर 'यूनानियों और बर्बरों का कर्ज'[१] तो है ही; पूर्वी धर्मों की अन्तर्दृष्टि पाकर उसका काफी लाभ हो सकता है।

६. चीन

भारत और सुदूरपूर्व के देशों में कुछ गुण—जैसे सुदृढ़ पारिवारिक सम्बन्ध और पूर्वजों के प्रति श्रद्धा—समान रूप से उपस्थित हैं। विचारों और भावनाओं में एक साहचर्य है, जिसे ताओवाद और बौद्ध धर्म की शिक्षाओं से पोषण मिला है। लगभग पचीस शताब्दियों तक सुदूरपूर्व में बौद्ध धर्म ने सभ्यता को विकसित करने का कार्य किया है, एशिया की विचारधारा को आकार दिया है, महान दार्शनिक आन्दोलनों और मध्य एशिया की भाषाओं समेत अनेक भाषाओं में साहित्य का सृजन किया है। बौद्धधर्म ने अनेक बर्बर जातियों को जीव-मात्र के प्रति दया के अपने सिद्धांत के बल पर सभ्य बनाया है और महान कला का सृजन किया है जो अपनी आध्यात्मिक शिक्षाओं, मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता और नीतिविषयक अर्थ-गंभीरता के लिए जगत्प्रसिद्ध है। कुछ समय पूर्व के राजनीतिक अनुभवों ने सारे एशिया के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी है।

ताओ का अस्तित्व सर्वप्रथम है। ताओ ही एक ऐसा उपाय, प्रकृति का पक्षपातरहित विवेकपूर्ण नियम है जिसके अनुसार आचरण से ही विवेक और शान्ति

१. रोमन्स प्रथम, १४।

से भरापूरा जीवन बिताया जा सकता है। विवेक और शान्ति प्राप्त करने का उपाय. प्रकृति के नियमों के अनुकूल आचरण ही है। "प्रकृति में सभी चीज़ें चुपचाप काम करती हैं। वे जन्मती हैं और उनका अपना कुछ नहीं होता। वे अपना काम अंजाम देती हैं और बदला नहीं मांगतीं। सभी चीज़ें समान रूप से अपने-अपने काम करती हैं और तब लुप्त हो जाती हैं। पूर्ण यौवन प्राप्त करने के बाद हर वस्तु अपनी प्रारम्भिक दशा में वापस पहुंच जाती है। प्रारम्भिक दशा में वापस पहुंचने का अर्थ है विश्राम अथवा उनके प्रारब्ध की सिद्धि। यह वापसी एक शाश्वत नियम है। यही नियम विवेक है।" लाओत्से का कथन है : "यदि तुम झगड़ा न करो तो संसार का कोई व्यक्ति तुमसे लड़ नहीं सकता।···अपकार का बदला सहानुभूति से दो। जो अच्छे हैं उनके लिए मैं अच्छा हूं और जो अच्छे नहीं हैं उनके लिए भी मैं अच्छा हूं। इस तरह सभी अच्छे बन जाते हैं।···दुनिया की सबसे कोमल वस्तु भी सबसे कठोर वस्तु से टकराकर उसे पराजित कर सकती है।···पानी से अधिक कोमल या कमज़ोर चीज़ संसार में नहीं है, लेकिन सुदृढ़ और मज़बूत चीज़ों पर हमला करने के लिए सबसे पहला नाम उसीका होता है।" "अपनी शान्ति के बल पर स्त्री हमेशा पुरुष को पराजित कर देती है।"[1] अन्य जीवों से श्रेष्ठ मनुष्य से आशा की जाती है कि वह दूसरों को बदल सकेगा। "जिस प्रकार सभी नदी-नाले किसी विशाल नदी या समुद्र में मिल जाते हैं, उसी प्रकार संसार की तमाम वस्तुएं ताओ में समा जाती हैं।"[2] चीन में अच्छाई से अधिक विवेक का, सन्तों से अधिक विद्वानों—परिपक्व और स्थिर मस्तिष्कवाले विद्वानों—का महत्त्व है।

हर जन्म लेनेवाली चीज़ ताओ के नियमानुसार जन्म लेती है। यह 'यिन' और 'याङ्' नामक जुड़वां तत्त्वों से श्रेष्ठतर परम तत्त्व है। नमी, छाया, ठंडक और संकोचन का प्रतिनिधि स्त्री-तत्त्व यिन है और गर्मी, धूप, चपलता और प्रसरण का प्रतिनिधि पुरुष-तत्त्व याङ्। इन दोनों तत्त्वों की प्रक्रिया से ही प्रकृति और मानव के क्रियाकलापों का समाधान किया जाता है। फिर भी वे ताओ के अधीन हैं, उसीमें निहित हैं तथा उसीसे प्रेरित होते हैं। ताओ इन दो तत्त्वों का अनन्त परिवर्तन करता रहता है और इसी कारण ब्रह्मांड की परिचालन-शक्ति है।

निषेधात्मक शब्दों में ताओ को उपनिषदों का 'ब्रह्म' कहा गया है। "व्यक्त किया जा सकनेवाला ताओ शाश्वत नहीं है; परिभाषित किया जा सकनेवाला नाम अपरिवर्तनशील नहीं।"[3] ताओ की प्राप्ति के लिए जीवन और मृत्यु,

१. II; LXI, २, लेगे : 'सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट' XXXIX (१८९१), पृष्ठ ९१।
२. II; LXI, २, लेगे : 'सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट' XXXIX (१८९१), पृष्ठ ९२
३. 'ताओ चेह चिङ्' : प्रथम अध्याय।

अन्तर्मन और वस्तुजगत्, समय और स्थान से ऊपर उठना होता है। किसी भी समय से पहले और सदैव एक 'अस्तित्व' था—स्वयमेव, शाश्वत, अनन्त, सम्पूर्ण, सर्वव्यापी। इसे कोई नाम देना असंभव है, क्योंकि मानवीय भाषा द्वारा केवल इन्द्रिय-ग्राह्य प्राणियों के नाम दिए जा सकते हैं। 'आदि अस्तित्व' तो अनिवार्यतः इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। इसे शून्य, रहस्य या ताओ कहा जाता है। निषेधात्मक या तुलनात्मक ढंग से इसका वर्णन किया जाता है, किन्तु इसे 'अनस्तित्व' नहीं समझना चाहिए। यह तो गतिमयता, उत्थान, स्वच्छन्दता है। यह 'संसार को चलानेवाली क्रिया है'। सम्पूर्ण स्वार्थमय लालसाओं और तात्कालिकता की भावना को त्याग देना तथा ताओ द्वारा निर्देशित होना ही विवेक है।

चीन का ध्यान बाहरी दुनिया को काबू में करने या आदमी के विभाजित आत्म को विरोध से मुक्त करने में इतना केन्द्रित नहीं है, जितना सामाजिक जीवन की समस्याओं, उचित राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों पर है। कन्फ़्यूशियस के अनुयायियों के लिए मानव न तो विशुद्ध बौद्धिक है और न अपनी अन्तःप्रवृत्ति के साथ पूर्ण समझौता करने का इच्छुक मात्र। वह अनिवार्यतः सामाजिक प्राणी है, और अपने साथियों के साथ समझौता करना चाहता है। कन्फ़्यूशियसवाद धर्म नहीं है, एक नैतिक पद्धति है, एक सामाजिक संहिता है। यह अब भी धार्मिक नींव पर टिका है। कन्फ़्यूशियस का नीतिशास्त्र ताओ की धार्मिक धारणा पर आधृत है। कन्फ़्यूशियस का कथन है, "यदि किसी व्यक्ति ने सुबह ही ताओ अंगीकार किया हो, और शाम को उसकी मृत्यु हो जाय तो भी कुछ बुरा नहीं।" "जहां तक ताओ का प्रश्न है, हमें एक क्षण को भी उससे अलग नहीं रहना चाहिए।"[1] कन्फ़्यूशियस के लिए "सिद्धि ही स्वर्गिक ताओ है। सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न मानवमात्र का ताओ है।" कन्फ़्यूशियस को अनुभव होता है कि उसका कर्त्तव्य ईश्वर (तियेन) द्वारा निर्धारित है, इसलिए वह ईश्वर पर निर्भर है। निम्नलिखित पांच सम्बंध ईश्वर द्वारा निर्धारित हैं: (१) शासक और मंत्री, (२) पिता और पुत्र, (३) पति और पत्नी, (४) बड़े और छोटे भाई, तथा (५) मित्र और मित्र। इन्हीं सम्बन्धों को उचित ढंग से निबाहने से सम्पूर्ण व्यक्तिगत एवं सामाजिक सम्पन्नता प्राप्त हो सकती है। ये ताओ के ही अंग हैं।

चीनी ज्ञानियों की कुछ सूक्तियां वास्तव में विवेक का निचोड़ हैं और बेचैन

---

१. देखिए रीशेल्ट कृत 'रेलीजन इन चाइनीज गारमेंट', अंग्रेजी अनुवाद, (१९५१), पृष्ठ ३४।

व आन्दोलित संसार में रहनेवाले हम लोगों के लिए उपयोगी हैं। यदि हमें राज्य का काम सुचारु रूप से चलाना है तो अपने परिवारों को व्यवस्थित करना होगा; अपने परिवारों को व्यवस्थित करने के लिए स्वयं को सुधारना होगा ; आत्म-सुधार के लिए हृदय की शुद्धि आवश्यक है। कन्फ्यूशियस के अनुसार हृदय की शुद्धि, परिवार की पुनर्व्यवस्था और राज्य का सुचारु रूप से चालन हमारा कर्तव्य है। कन्फ्यूशियस के अनुसार, प्रभुसत्ता का स्रोत व्यक्ति है। जनता का विश्वास प्राप्त न कर पानेवाली सरकार का पतन अवश्यंभावी है।[1]

कन्फ्यूशियस ने 'जेन' या परोपकार के सिद्धान्त पर विशेष ज़ोर दिया है। "जिस प्रकार के व्यवहार की आशा दूसरों से आप अपने लिए नहीं करते, उस प्रकार का व्यवहार आप स्वयं दूसरों के साथ न करें।" कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं के अनुसार 'जेन' का मंतव्य है—मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान, स्वयं अपनी तथा दूसरों की प्रतिष्ठा की स्वीकृति, ईमानदारी, सहृदयता और मानवीय संवेदनाएं।

अपनी 'एनालेक्ट्स' (शाब्दिक अर्थ : 'साहित्य-समुच्चय') में कन्फ्यूशियस ने लिखा है कि परमात्मा के बारे में मैं मौन ही रहूंगा। "मैं कुछ नहीं कहना चाहता।" उनका विद्यार्थी त्सू-कुङ् पूछता है : "यदि आप मौन रहेंगे गुरुजी, तो हम आपके शिष्य क्या लिखेंगे और किसका पालन करेंगे ?" गुरुजी उत्तर देते हैं : "क्या ब्रह्मांड बोलता है ? चारों ऋतुएं एक क्रम से आती-जाती हैं और उन्हींके अनुसार सारी वस्तुओं का उत्पादन होता है, किन्तु क्या ब्रह्मांड कुछ कहता है ?" "परम शक्तिशाली ईश्वर के क्रियाकलापों में न ध्वनि होती है और न गंध।"[2] कन्फ्यूशियस का ज्ञानी पुरुष 'भगवद्गीता' के 'स्थितप्रज्ञ' के समकक्ष है।[3] कन्फ्यूशियस का कथन है : "मैं जानता हूं कि पक्षी उड़ सकते हैं, मछलियां तैर सकती हैं और पशु दौड़ सकते हैं, किन्तु दौड़ाक को गिराया, तैराक को कटिया से फंसाया

---

१. सरकार के बारे में प्रश्न किए जाने पर कन्फ्यूशियस ने कहा : "सरकार की आवश्यकताएं तीन हैं : खाद्यपदार्थों की प्रचुरता हो, युद्ध-सामग्री समुचित हो, और शासक के प्रति जनता में विश्वास हो।" त्सू-कुङ्ने कहा : "यदि ऐसा न हो सके, और इनमें से एक को छोड़ना पड़े तो सबसे पहले किसे छोड़ना चाहिए ?" "युद्ध सामग्री," गुरु ने उत्तर दिया। त्सू-कुङ्ने फिर पूछा : "इतने से भी काम न चले और शेष दो में से भी एक को छोड़ने का प्रश्न उठ खड़ा हो, तो किसे त्याग देना चाहिए ?" गुरुजी ने उत्तर दिया : "खाद्यपदार्थों को। सदा से मानव-मात्र को अन्ततः मृत्यु ही मिलती रही है, किन्तु यदि जनता को (अपने शासकों पर) विश्वास नहीं है, तो (राज्य के) स्थायित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।" 'एनालेक्ट्स, XII, VII.।

२. 'डाक्ट्रीन आफ द मीन' : अध्याय ३३।

३. II

ग्रौर उड़नेवाले को तीर से मारा जा सकता है। जिस तरह 'ड्रैगन' बादलों के बीच या उनके पार उड़ता है, उसी प्रकार हमें भौतिक अधिकारों के आश्रय से मुक्ति पानी ही चाहिए। चीनी समाज में सैनिक का स्थान सम्मानजनक नहीं था। एक प्रसिद्ध चीनी कहावत है :

अच्छे लोहे से कीलें नहीं बनाई जातीं ;
अच्छा आदमी सैनिक नहीं बनता।

ईसा से पूर्व पांचवीं सदी के दार्शनिक मो त्सू को एक त्रिकालदर्शी, सर्वशक्तिमान, सच्चरित्र 'व्यक्तिगत ईश्वर' में विश्वास था। "ऊंचाई पर स्थित ईश्वर के भय से हमें सुकर्म करने चाहिए, क्योंकि 'वह' सबकुछ देखता रहता है कि जंगलों, घाटियों और अंधेरी जगहों (जहां मानवीय दृष्टि असफल रहती है) में क्या हो रहा है। केवल 'उसे' ही प्रसन्न करने की चेष्टा हमें करनी चाहिए। 'वह' अच्छाई को चाहता और बुराई से घृणा करता है। 'वह' न्याय से प्रेम और अन्याय से घृणा करता है। पृथ्वी पर सारी शक्ति 'उसी' के कारण है और उस शक्ति का उपयोग 'उसी' के अनुसार होना चाहिये। 'वह' चाहता है कि राजा अपनी प्रजा के साथ दयालुता का व्यवहार करें और मानव-मात्र परस्पर प्रेम करें, क्योंकि 'वह' स्वयं सभी मनुष्यों को प्यार करता है। 'वह' स्त्रियों को विधवा और बच्चों को अनाथ बनानेवाले विजेताओं से घृणा करता है।" मो त्सू ने अपनी शिक्षा का निचोड़ यों दिया है : "ईश्वर की आराधना और मानव-मात्र के प्रति प्रेम—यही विवेक है।"

चीनी लोग किसी रूढ़ मत के गुलाम नहीं हैं। इसीलिए संशोधन की संभावना सदैव है। चीन की विभिन्न धार्मिक प्रणालियों में अधिक सीमा तक पारस्परिक सम्बन्ध है। मशहूर ईसाई मिशनरी और चीनी बौद्ध धर्म के विशेषज्ञ डा० रीशेल्ट ने लिखा है: "चीनी लोग एकसाथ कन्फ्यूशियसवादी, ताओवादी और बौद्ध हैं। यह अवस्था हमें स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। कुछ देवता सभी धार्मिक प्रणालियों में पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ छोटे नगरों या कस्बों में सम्मिलित मंदिर हैं, जहां तीनों धर्मों के देवताओं की मूर्तियां सिंहासनों पर साथ-साथ रखी हैं। प्रतिदिन की पूजा तो पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही घरेलू मूर्तियों से हो जाती है, किन्तु विशेष अवसरों पर सामान्य चीनी लोग मन्दिर में जाना पसन्द करते हैं और वे ताओवादी हैं या बौद्ध, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।···यदि आप किसी पर जोर ही डालें और विशेष आग्रह से उसके समग्र जीवन-दर्शन के बारे में जानना चाहें, तो आपको संभवतः अनेक विचित्र बातें सुनने को मिलें—अधिकतर तो ढीले-ढाले ढंग से मिश्रित विचार-पद्धति ही सामने आएगी, जिसमें कन्फ्यूशियस के सिद्धान्तों के अनुसार ढले हुए

प्राचीन चीनी दृष्टिकोण के साथ बौद्ध अस्तित्ववादी दर्शन का धुंधला-सा मिश्रण ही होगा।"[1]

जीवन के प्रति चीनी दृष्टिकोण का अनिवार्य परिणाम है रूढ़ियों से मुक्ति। ताओवादियों का कथन है : "जीवित मनुष्य कोमल और सुकुमार होता है; मृत्यु के पश्चात् कड़ा और सख्त।" इसलिए कहा गया है : "कड़ापन और सख्ती मृत्यु के अंग हैं तथा कोमलता और सुकुमारता जीवन के।"[2] सजीव का विशेष गुण है खुलापन, परिस्थितियों के अनुसार स्वयं के ढालने की क्षमता। हमें दूसरों पर अपने विचार लादने नहीं चाहिए, बल्कि अपने विचारों को दूसरों को प्रभावित करने का अवसर देना चाहिए, और अपनी धारणाओं को दूसरों द्वारा संशोधन के लिए खुला रखना चाहिए।

चीनी 'क्लासिक' कैथोलिक पादरियों के अनुवादों द्वारा यूरोप पहुंचे तो लीबनिज़ और वॉल्फ जैसे दार्शनिकों ने उनके मूल्य और महत्त्व को स्वीकार किया।

१०. धर्म में रूढ़ि बनाम स्वतंत्रता

यदि धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार आचरण को ही अन्तिम परीक्षा समझ लिया जाय, तो विभिन्न मतानुयायी परस्पर बिल्कुल अनजान मालूम पड़ेंगे; यदि जीवन की विधि पर ध्यान दिया जाय तो धर्मानुयायी व्यक्ति परस्पर समान मालूम पड़ेंगे। हमारा धर्म ही सत्य का प्रतिनिधि है और इसे न माननेवाले काफ़िर हैं जिनका विनाश आवश्यक है—यह दृष्टिकोण घातक है।

गोचर एवं समझ में आ सकनेवाली वस्तुओं के बारे में हमारा ज्ञान अभी प्रयोगावस्था में और अपूर्ण है, फिर भी ईश्वर के स्वभाव और संसार के साथ उसके सम्बंध के बारे में हमें इतना विश्वास हो—यह आश्चर्य की ही तो बात है! केवल हमारा धर्मग्रन्थ या हमारी संस्था दोषरहित, निर्भ्रान्त और दैवी है तथा ईश्वरीय शिक्षा और कृपा की व्याख्या करने व उन्हें प्रदान करने में समर्थ है—इस प्रकार के तर्क

---

१. 'रेलीजन इन चाइनीज़ गारमेंट', (१९५१), पृष्ठ १७३।

२. 'ताओ तेह चिङ्' LXXVI, चुआङ् त्सू की सलाह इस प्रकार है : "अत्यधिक यथार्थ की खोज मत करो। मैं स्वयं काफी भटक चुका हूं, फिर भी अभी तक केवल प्रारम्भ को ही जान सका हूं। मैं विशाल व्योम में इच्छानुसार घूम चुका हूं। मैं वहां तक पहुंचने की तरकीब तो जानता हूं, किन्तु यह नहीं जानता कि उनका अन्त कहां है। आर्थर वेली, 'थ्री वेज़ ऑफ थाट इन ऐंशेंट चाइना' (१९३९), पृष्ठ ७९, (जार्ज एलेन ऐंड अनविन)।

बहुत हद तक हठपूर्ण ही हैं।[1]

ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक भारत में विभिन्न धर्म पनपते रहे हैं और भारतीय दर्शन में सभी के प्रति 'जियो और जीने दो' सिद्धान्त का पालन किया जाता रहा है। १९ अक्तूबर, १९५१ को पारित भारतीय कांग्रेस के प्रस्ताव में यह व्यक्त है : "अपने जन्मकाल से ही कांग्रेस का उद्देश्य और घोषित नीति यही रही है कि एक धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्रीय राज्य की स्थापना हो, जिसमें सभी धर्मों के प्रति आदर हो किन्तु किसी भी धर्म या जाति के प्रति पक्षपात न हो और राष्ट्र को बनानेवाली सभी जातियों अथवा व्यक्तियों को समानाधिकार और अवसर की स्वतंत्रता मिले। भारत गणराज्य का विधान इसी आधारभूत सिद्धान्त पर आधृत है।"[2]

सभी धर्म एक आध्यात्मिक प्रकाश की प्राप्ति में हमारे सहायक हैं। हमें अनेक रास्ते दिखलाई पड़ते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे विभिन्न लक्ष्यों तक ले जाते हैं। हो सकता है कि कुछ गज़ या कुछ मील के बाद आपस में मिलकर कंकरीट की एक सड़क बना लें, जो सिद्धि तक जाती हो।

भारतीय धर्मों में एकाधिकृत पूजा का स्थान नहीं है। उनका आशय तो बहुत हद तक यही है कि प्रत्यक्षतः विरोधी, किन्तु वास्तव में पूरक, सत्यों को साथ-साथ समझने का प्रयत्न न करके हम गलती करते हैं। निषिद्धियां और धर्मोन्मत्त अस्वीकृतियां ही नास्तिकता का कारण हैं। सत्य केवल एक है, और सत्य को निश्चित रूप से जाननेवाले सभी व्यक्ति उससे प्रभावित होते हैं। यहां हम विशेष दृष्टिकोणों से परे हट जाते हैं। भारतीय धार्मिक परम्परा एक सत्य को माननेवाले प्रत्येक रूप को स्वीकार करती है। सत्य-केन्द्रित व्यक्ति धार्मिक विवाद में नहीं पड़ते। इस आदर्श को मानने पर धार्मिक असहिष्णुता का, जो आत्मा की जन्मजात विरोधिनी है, कोई स्थान नहीं रह जाता। धर्म जब संगठित हो जाता है, व्यक्ति की स्वाधीनता जाती रहती है। तब ईश्वर की नहीं बल्कि उसके प्रतिनिधित्व का दम भरनेवाले समूह या अधिकारी की पूजा होती है। तब सचाई का खंडन नहीं, वरन् अधिकारी की अवज्ञा ही पाप बन जाती है।

---

१. धर्मशास्त्री 'इतनी शुद्धतापूर्वक परम शक्तिमान ईश्वर के स्वभाव का वर्णन करते हैं, जितनी शुद्धतापूर्वक अधिकांश वैज्ञानिक काले गुबरैले के जन्म के बारे में नहीं बता पाते।' लेस्ली स्टीफेन : 'ऐन एग्नास्टिक्स एपालॉजी ऐंड अदर एसेज़' (१८९३), पृष्ठ ५।

२. भारतीय संविधान में स्पष्ट लिखा है कि "राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध धर्म, जाति, वर्ण, लिङ्ग अथवा जन्मस्थान अथवा उनमें से किसी एक के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।" एक अन्य स्थान पर लिखा है कि "सब व्यक्तियों को विश्वास की स्वतन्त्रता का तथा किसी धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार है।"

यूरोपीय धार्मिक इतिहास के ज्ञाता चीन और भारत की इस आश्चर्यजनक दृष्टि को समझ नहीं पाते कि वहां साम्प्रदायिक अन्तरों का उतना महत्त्व नहीं है, जितना पश्चिम में। किसी वैष्णव को कभी भी नहीं सूझेगा कि उसका पड़ोसी शैव नास्तिक है, जिसे अनन्त नरकवास ही मिलेगा। ये देवता तो परमेश्वर के विभिन्न रूपों को दर्शाते हैं। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में अनेक चीनी यात्री भारत आए थे। उनके वर्णनों से हमें पता लगता है कि विभिन्न मतानुयायी एकसाथ बैठकर आत्मा और परमात्मा के प्रश्न पर चर्चा किया करते थे और विभिन्न धर्मावलम्बी शिक्षक विश्वविद्यालयों में अध्यापन करते थे। सम्पूर्ण मानव-जाति की आत्मा का मात्र एक उद्देश्य है; अलग-अलग लोग अलग-अलग ढंग से उसे प्राप्त करना चाहते हैं। भारत में बहुत पहले से अल्पसंख्यक यहूदी, सीरियाई ईसाई और पारसी मौजूद हैं—यह इस तथ्य का प्रमाण है कि भारत में धार्मिक सहिष्णुता की भावना लगातार कायम है।

इसका अर्थ यह नहीं कि विकास को प्रोत्साहन नहीं मिलता। प्रत्येक परम्परागत सिद्धान्त विभिन्न खंडों से बना एक आकार है, और इसमें परिवर्तन आन्तरिक विकास के कारण होते हैं, बाहर से लादे नहीं जाते। विभिन्न मत शताब्दियों की वृद्धि के परिणाम हैं और नैतिक आदर्शों द्वारा निर्मित जातीय गुणों की मिट्टी में उनकी जड़ें हैं। आकस्मिक परिवर्तनों का परिणाम भयानक हो सकता है, किन्तु दूसरे धार्मिक दृष्टिकोणों का प्रभाव एक प्रकार के 'ख़मीर' का काम करके स्वाभाविक परिवर्तन पैदा करता है। गायत्री मंत्र में निर्देशित है कि बाह्य रूपों को भेदकर उन रूपों द्वारा इंगित बोध तक पहुंचने का सतत प्रयास प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। बाह्य रूपों से सन्तुष्टि ही धार्मिक जीवन का सबसे बड़ा दोष है। आज, जब विभिन्न धर्म आमने-सामने हैं, पूर्वीय दृष्टिकोण इसी बात पर ज़ोर देगा कि एक धर्म का स्थान दूसरे द्वारा ग्रहण किया जाना आवश्यक नहीं है। यदि हम आध्यात्मिक यथार्थ और ऐतिहासिक परम्परा में विभेद कर सकें तो हमें स्वीकार करना होगा कि मानवता के आध्यात्मिक जीवन के पोषण के लिए विभिन्न धर्म सद्भावनापूर्वक कार्य कर सकते हैं।

सरकार और अपनी शिक्षा-संस्थाओं की सहायता से भारत पर अपनी संस्कृति थोपने के पश्चिमी शक्तियों के प्रयत्नों ने भारतीय जनता की निश्चलता को भंग किया और भारतीय समाज की सतह को आन्दोलित किया, किन्तु गहराई में पैठी भारत की दीर्घकालीन परम्परा पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। सतह पर होनेवाली हलचलों को मुख्य आकार का टूटना नहीं समझा जा सकता।

सम्पूर्ण भारत में सार्वभौम धर्म का पुनरुत्थान हुआ है, जिसका आधार वेदों

की प्रमुख शिक्षाएं हैं; इनमें हिन्दूधर्म की सिद्धान्त–त्रयी 'प्रस्थान-त्रय' का निर्माण करनेवाले उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र सम्मिलित हैं। राममोहन राय (१७७४–१८३३) ने प्रचलित रूढ़ हिन्दूधर्म के सुधार की प्रेरणा उपनिषदों में पाई। दयानन्द सरस्वती को जाति-प्रथा और अस्पृश्यता से मुक्त आदर्श आर्य-समाज का प्रमाण ऋग्वेद के श्लोकों में मिला। श्रीमती एनी बेसेंट के नेतृत्व में, थियोसोफ़िकल सोसायटी ने हिन्दूधर्म को एक प्रगतिशील और सार्वभौम प्रकृति प्रदान की। रामकृष्ण आन्दोलन ने, जिसके अनुयायियों की संख्या लाखों में है, हिन्दूधर्म के आध्यात्मिक एवं सामाजिक पक्ष पर ज़ोर दिया। रामकृष्ण ने विभिन्न धार्मिक मतों का गहन अध्ययन किया और उनकी आन्तरिक एकता व आध्यात्मिक अनुरूपता को उजागर किया। बाल गंगाधर तिलक, श्री अरविन्द और महात्मा गांधी ने एक पुनरुज्जीवित भारतीय समाज की स्थापना के लिए भगवद्गीता का सहारा लिया।

इन सारी शताब्दियों के दौरान भारत के निवासियों ने एक संस्कृति का विकास किया है और उसे निरन्तर कायम रखा है। यह कोई जड़ विचारधारा नहीं बल्कि एक जीवित प्रक्रिया है, जो परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालते हुए अधिक से अधिक समृद्ध होती गई है।

विभिन्न जातियों के, विभिन्न भाषा-भाषी, तथा अलग संस्कृतियों के लोग भारतीय धरती पर मिले हैं और समय-समय पर हुए संघर्षों के बावजूद एक ही सभ्यता के सदस्यों के रूप में रहने लगे हैं—ऐसी सभ्यता, जिसके प्रमुख गुण हैं : सभी जीवधारियों में व्यक्त एक 'अदृश्य वास्तविकता' के प्रति आस्था, आध्यात्मिक अनुभव का महत्त्व, संस्कारों और सिद्धान्तों की सापेक्षता, बौद्धिक आदर्शों के प्रति रूढ़ अवलम्बन और प्रत्यक्ष विरोधों को सम करने की आतुरता। उसके आदर्शों को अंधविश्वास नहीं, बल्कि जीवन्त सत्य समझा जाता है जो सम्पूर्ण मानवता की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है। बहुत पुराने समय से, यहां तक कि सुमेर काल से, शायद ही कोई धर्म या सम्प्रदाय, आशा या स्वप्न ऐसा हो जिसे भारत ने स्वीकार न किया हो; फिर भी भारत की आत्मा अपरिवर्तित है। गांधीजी ने 'यंग इंडिया'[1] में लिखा था : "मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर एक दीवार उठा दी जाए और खिड़कियों को बन्द कर दिया जाए। मैं चाहता हूं कि यथासंभव स्वतन्त्रतापूर्वक सभी देशों की संस्कृतियां मेरे घर के चारों ओर मंडराती रहें। लेकिन यह निश्चित है कि कोई भी संस्कृति मेरे पांव नहीं उखाड़ सकेगी।" दूसरी संस्कृतियों ने भारत को प्रभावित किया है, पराजित नहीं।

१. १ जून, १९२१।

यूरोप के समान, भारत की अखंडता क्षेत्रीय राष्ट्रीय आन्दोलनों में नहीं बदली है, और हर अलग भाषा वाले क्षेत्र में स्वतंत्र राजनीतिक इकाइयां नहीं बन पाई हैं। इसका कारण है एक प्राचीन संस्कृति की सुदृढ़ता और बाहरी—ईसा की आठवीं शताब्दी से मुसलमान और अठारहवीं शताब्दी के बाद यूरोपीय—प्रभाव।

भारत ही अकेला देश है जहां मन्दिरों, गिरजों और मसजिदों का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व है। मैं स्वयं हिन्दू मन्दिरों, यहूदियों की प्रार्थना-सभाओं, बौद्ध मठों, ईसाई गिरजों और मुसलमान मसजिदों में भाषण दे चुका हूं और न तो मैंने अपनी बौद्धिक जागरूकता के साथ कोई समझौता किया है और न अपने आध्यात्मिक विश्वासों को ठेस पहुंचने दी है। पक्षपातहीन विवेक की प्रवृत्ति भारत की धार्मिक परम्परा में व्याप्त है।

अनेक महान आत्माओं के प्रयत्नों से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है—उनकी पीड़ाओं से ढांचा ऊपर उठा और रक्त से निर्मित हुआ है। शताब्दियां बीतने के साथ-साथ उसमें मिट्टी का रंग मिल गया है। अपनी लम्बी वृद्धि के सारे घाव और धब्बे उसपर मौजूद हैं। यह आकर्षक भी है और विकर्षक भी, अपने विरोधाभासों से हमें चौंका देती है और अविनाशी जीवनी शक्ति से मोह लेती है। भारत ने देखा है कि उसकी समकालीन संस्कृतियां अपनी अगली पीढ़ी की संस्कृतियों को जगह देकर विलीन हो गई, फिर कुछ नवीन संस्कृतियां भी लुप्त हो गईं, किन्तु भारतीय संस्कृति फिर भी जीवित है। उसकी आत्मा के दीपक की लौ कांपी तो थी, किन्तु बुझी कभी नहीं।

मानवीय विचारधारा निर्मल सरिता नहीं है; साधारणतः उसमें खूब मिट्टी मिली होती है और आज भारत में काफी मिट्टी जम गई है जिसे हटाना आवश्यक है। अंध-विश्वास खूब फैला है। आज भी बहुत लोग भूत-प्रेतों में विश्वास करते हैं। यहां तक कि शिक्षित भारतीय भी अपनी संस्कृति की प्रवृत्ति को, उसकी उपलब्धियों और संभावनाओं को नहीं समझते। व्यवसायगत अन्तरों ने रूढ़ जातियों का रूप ग्रहण कर लिया है। सात्त्विक विचारोंवाले व्यक्ति अस्पृश्यता को अपराध और कुप्रवृत्ति मानते हैं। अनेक सामाजिक रीति-रिवाज कायम हैं, हालांकि उनसे जीवन का प्रवाह रुक गया है। लेकिन ये दोष भीतरी नहीं हैं। भारत के आदर्शों के साथ इनका कोई साम्य नहीं है। भारत आज तभी जीवित रह सकता है जब वह अपने आदर्शों का प्रतिनिधित्व न करनेवाली संस्थाओं को पूजना बन्द कर दे। अनेक संस्थाएं तो अहिल्या—कभी जीवित प्राणी की पाषाण-प्रतिमा—बनकर रह गई हैं। आत्मा के संस्पर्श से पाषाणों को पुनः जीवन प्रदान किया जा सकता है। आज आवश्यकता है कि भारत अपनी ही प्रवृत्तियों को दांव पर लगा दे।

द्वितीय व्याख्यान

पश्चिम (१)

१. पश्चिमी संस्कृति

पश्चिमी संस्कृति के मूल्यों और सिद्धान्तों के उद्‌गम यूनान, रोम और फिलिस्तीन हैं। यूनान से समीक्षात्मक दृष्टिकोण, पर्यवेक्षण-विधियां और राजनीतिक सिद्धान्त मिले। धर्मनिरपेक्ष कानून और व्यवस्था-सम्बन्धी नियम रोम की देन हैं। एकेश्वरवाद और ईश्वर के निर्देशानुसार आचरण करनेवाले नैतिक मानव के विचार फिलिस्तीन-प्रदत्त हैं। पश्चिमी परम्परा के तीन अवयव तत्त्व हैं—विचार, अनुपालन और आस्था। किन्तु यूरोपीय इतिहास की किसी भी अवस्था में इन तीनों का सामंजस्य स्थापित हो सका, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज भी ये अस्थायी सन्तुलन में ही हैं। ऐथेन्स ने सुकरात को मौत के घाट उतार दिया और दासप्रथा को कायम रखा। रोमक कानून ने कभी सीज़रों और सामान्य नागरिकों की ज़्यादतियों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया। ईसाई चर्च भौतिक शक्तियों की प्राप्ति के लिए संघर्षशील रहा। आज राजनीतिक संस्थाओं की निरंकुशता पर व्यवस्था-सम्बन्धी सिद्धान्त लागू करने के प्रयत्न विफल हुए हैं और कानून द्वारा नियंत्रित एक सार्वभौम समाज के आदर्शानुसार आचरण में भी हमें सफलता नहीं मिली है—और युद्ध तथा विद्रोह की धमकियां इन्हीं असफलताओं के बाह्य लक्षण हैं।

यूनान, फिलिस्तीन और रोम पर पूर्व का अत्यन्त प्रभाव था। एशिया माइनर और मिस्र की संस्कृतियों से यूनान ने बहुत कुछ ग्रहण किया। ईसा से पहले की शताब्दियों में यहूदी-संसार में पूर्व की धार्मिक अन्तर्दृष्टि पहुंचती रही थी, जिससे उत्पन्न आध्यात्मिक उत्तेजना ने ईश्वर और मनुष्य-सम्बंधी जूडियाई-ईसाई विचार को जन्म दिया। ईसाई धर्म ने अपने सांचे में पूर्वकालिक मतों—मिथ्रा सम्प्रदाय और मनी के सुधारों—को ढाल लिया। जर्मन और मंगोल आक्रमणकारियों की राजनीतिक और सैनिक व्यवस्था ने पश्चिम के राजनीतिक गठन को

प्रभावित किया। अरबी इस्लाम ने, स्पेन और इटली से होकर, पश्चिमी संस्कृति को यूनानी सांस्कृतिक विरासत का कुछ अंश पुनः प्रदान किया, जिसे पश्चिम रोमक साम्राज्य के दिनों में भूल बैठा था। अपने अनुसंधान और पर्यवेक्षण से प्राप्त नवीन वैज्ञानिक सिद्धान्तों को भी अरबों ने यूरोप में फैलाया और इस प्रकार पुनरुत्थान और नवजागृति की आधारभूमि प्रस्तुत की।

२. यूनान और पूर्व

ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक संदर्भ में पूर्व और पश्चिम की चर्चा करते समय हमें भौगोलिक मान्यताओं का विचार त्याग देना चाहिए। पांचवीं शताब्दी ईसापूर्व के यूनानियों के लिए पूर्व या एशिया का अर्थ था फ़ारस और पश्चिम या यूरोप का अर्थ था प्राचीन विशुद्ध यूनानी (हेलेनिक) संसार।

भाषा के जन्म के सम्बन्ध में हमारे विभिन्न सिद्धान्त हैं। यहूदी परम्परा के अनुसार आदम ने जन्तुओं के नाम रखे थे, और विभिन्न भाषाएं ईश्वर की देन हैं क्योंकि वे बैबेल की मीनार का निर्माण रोक देना चाहते थे। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि भाषा का विकास क्रमशः हुआ, अस्पष्ट स्वर और हावभाव क्रमशः भाषीय तत्त्वों में बदलते गए। अन्य लोगों का मत है कि मानव ने प्रकृति में जो ध्वनियां सुनीं उनकी नकल की और इसीसे भाषा बनी। भाषा का उद्गम चाहे जो हो, उसमें अभिव्यक्ति की वह शक्ति है जो पशुओं के लिए दुर्लभ है। भाषा के माध्यम से ही विचारों का आदान-प्रदान और सहयोग संभव है। यह किसी भी मानव-समूह में पाया जानेवाला एक सामाजिक आदर्श है।

आज से डेढ़ सौ साल पहले जब सर विलियम जोन्स जैसे यूरोपीय प्राच्यविदों ने यूरोपीय विद्वानों को संस्कृत से परिचित कराया तो ग्रीक, लैटिन तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट हो गया। जिस प्रकार फ्रेंच, इटालवी, पुर्तगाली, रूमानियाई और स्पेनी भाषाएं अपने शब्दकोष, उच्चारण और वाक्य-विन्यास में परस्पर समान हैं, उसी प्रकार संस्कृत और फारसी, आर्मीनियाई, अल्वानियाई, स्लावोनी भाषाएं, ग्रीक, लैटिन, ट्यूटन भाषाएं (नारवी स्वीडनी, जर्मन और ऐंग्लो-सैक्सन) तथा केल्टिक भाषाएं (वेल्सी अर्स, और गैलिक) भी परस्पर समान हैं। क्या ये सभी भाषाएं किसी ऐसी मूल बोली से उद्भूत हैं जिसे इतिहास के किसी युग में किसी स्थान के निवासी बोला करते थे या ये एकदम भिन्न बोलियां हैं जिनमें विरोध कम और समानता अधिक है? क्या ये भाषाएं एक ही बोली के चटखकर बिखरने से बन गई हैं या एक-दूसरे

में मिलती हुई 'एक ही केन्द्र से प्रसारित बोलियों के निरन्तर प्रवाह'[1] जैसी हैं ? इनकी व्याख्या चाहे जो हो, भाषाओं की समानता से इतना पता तो लग ही जाता है कि कई विशिष्ट मानव-जातियों की अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक संगठन और धार्मिक विकास किस सीमा तक परस्पर समान थे। सहज ही कल्पना की जा सकती है कि इन जातियों में एक निश्चित सीमा तक स्थानातीत सम्पर्क स्थापित था।[2]

जहां से हमें वैदिक भारतीयों और होमरी यूनानियों के इतिहास का पता है, उस समय वे सामाजिक विकास की लगभग समान अवस्था तक पहुंच चुके थे। खेती-बाड़ी, शिकार और मछली पकड़ने की कलाओं का ज्ञान दोनों को था। घोड़ों का सामाजिक महत्त्व था। 'पहिया,' 'पहिये की नाभि', 'धुरी', 'जुआ' आदि शब्दों से पता चलता है कि पहियेदार गाड़ियों का प्रयोग होता था। 'नौकाओं' और 'डांड़ों' द्वारा जल-परिवहन प्रचलित था। ऊन काता-बुना जाता था। सामान्यतः पत्थर के बने औज़ारों और हथियारों, हथौड़ों, कुल्हाड़ियों और तीरों का प्रचलन था। तांबा ज्ञात था। कबीले पिता की वंश-परम्परा में चलते थे; शासन सरदारों और राजाओं के हाथ में था। अक्सर सुरक्षा के विचार से गांवों को चहारदीवारी से घेर दिया जाता था। एक आकाश-देवता (ज्यूपिटर, ज़्यूस पेटर, द्यौस पिता) की पूजा बलि देकर की जाती थी। ये सभी नाम प्राचीन 'हाई जर्मन' नाम 'ज़ियू' तथा प्राचीन नार्वी 'टायर' एक ही धातु 'चमकना' से उद्‌भूत हैं। वरुण के समकक्ष 'औरानॉस' हैं तथा उषस् का इओस। घुड़सवारी में दक्ष, अपृथक्य जुड़वां, प्रकाश और दीप्ति के दिव्य देवता अश्विनिकुमार 'डायोस्क्यूरी' थे, जिनका काम था देवताओं की रक्षा तथा मानवों की सहायता करना।

---

१. 'द यूरोपियन इन्हेरिटेन्स' (१९५४), खंड १, पृष्ठ ८३।

२. प्रोफेसर वी० गार्डन चाइल्ड ने लिखा है : "यह कहना असंगत होगा कि दूरस्थ प्रदेशों—जैसे, यूनान और भारत—में रहने और परस्पर सर्वथा असम्बद्ध बोलियों का व्यवहार करनेवाली दो जातियां विकास की समान अवस्था पर पहुंचकर 'फ़ादर', 'फ़ाल', और 'फ़ाइव' जैसे समान शब्दों का आविष्कार करें और समान ढंग से उनका उच्चारण करें, जैसाकि वैदिक भारतीय और होमरी यूनानी सचमुच करते थे। अवश्य ही कुछ जातियां आपस में इतने पास रहती रही होंगी कि परस्पर संचार संभव रहा होगा और उनके विकास की एक अवस्था ही आदि-कालीन संस्कृति रही होगी।" वही, पृष्ठ ८४। हिट्टी, जो यूरोप की सबसे पहली लिपिबद्ध और संरक्षित भाषा है, वाक्य-विन्यास, व्याकरण और शब्दकोष में संस्कृत, ग्रीक या लिथुआनियाई भाषाओं से भिन्न है। इसका 'अर्थ यह हो सकता है कि विकास की उक्त अवस्था तक पहुंचने से पहले ही उनके पूर्वज भौगोलिक या राजनीतिक बाधाओं के कारण अन्य जातियों से अलग हो गये होंगे।' वही पृष्ठ ८४।

इरोस (कामदेव) 'हिसियोद' के देवताओं में प्रथम थे।[1] वेद और होमर दोनों में आकाशीय पिंडों की पूजा साधारण बात थी। वैदिक ऋत, प्रकृति का नियम, यूनानी 'डाइक' में विद्यमान है। यूनानियों का प्रयत्न परमात्मा को इसी संसार में खोजने का था। उनके धर्म में प्रकृति की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शक्तियों और घटनाओं को सप्राण मानकर देवताओं के रूप में पूजा जाता था।

इन समानताओं से पता चलता है कि इन दो मानवजातियों—प्राचीन यूनानी और वैदिक भारतीय—में परस्पर सम्पर्क अवश्य रहा होगा, यद्यपि दोनों में से किसीको उस काल की याद नहीं है और वे फारसी साम्राज्य में अपरिचितों की भांति मिली थीं।

यूनानियों को मिस्री, असीरियाई, फारसी और हिब्रू सभ्यताओं के बारे में भी मालूम था, किन्तु वे उन्हें बर्बर मानते थे क्योंकि उनके विचार से वे तर्कसंगत सिद्धान्तों के आधार पर जीवन नहीं व्यतीत करते थे। मिस्रियों को शव सुरक्षित रखने में आनन्द प्राप्त होता था। असीरियाई लिखने-पढ़ने से अनभिज्ञ थे और उनके देवता आधे पशु थे। यहूदियों की आस्था अनुष्ठानों में थी और फारसियों को स्वतन्त्रता का अर्थ तक नहीं मालूम था। यूनानियों को लगता था कि पागलों की दुनिया में वे ही अकेले समझदार लोग हैं और हर समय उन्हें पागलपन की छूत लग जाने का खतरा है। बर्बरता का दबाव तो उनके लिए सचमुच असली था—केवल बाहर से नहीं, भीतर से भी।

अनेक अवसरों पर यूनानी अपने को मिस्र और मेसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यताओं का शिष्य कहा करते थे। गैर-यूनानियों का ऋण यूनानियों पर काफी था, किन्तु इससे यूनानी बुद्धि की मौलिकता में कमी नहीं आ जाती, क्योंकि दूसरों से प्राप्त विचारों को अपने मानस के अनुकूल बनाने की क्रिया में उन्होंने उन विचारों को काफी बदल डाला था। हम बाद में देखेंगे कि जब उन्होंने ईसाई आदर्शों को ग्रहण किया तो उन्हें अपने व्यवहार के अनुकूल बना लिया। यूनानियों के बारे में प्लेटो ने कहा था: "हमें मान लेना चाहिए कि यूनानियों ने जो कुछ भी दूसरी जातियों से ग्रहण किया, उसे अन्ततः श्रेष्ठतर ही बना दिया।"[2]

प्लेटो ने 'टिमियस' में लिखा है कि मिस्रवासी यूनानियों को बच्चा समझते थे। प्लेटो हेलेनिक समाज के पतनोन्मुख दिनों में जीवित थे, इसलिए मिस्री संस्कृति

---

१. एम्पीडोक्लीज़ के अनुसार, ब्रह्मांड की शक्तियों के प्रत्येक संयोग का प्रभावशील कारण प्रेम है।

२. 'एपीनोमिस,' ९८७ डी०।

के स्थायित्व को आदर्श मानते थे।[1] पिरामिड मानव-जाति की महान स्थापत्य-कला के प्रयास के प्रतिफल तथा नियोजन और कार्यकुशलता की अद्वितीय उपलब्धि थे। मिस्र के मन्दिर आज भी नील नदी के प्राचीनतम निवासियों की ईश्वर में आस्था के गवाहों के रूप में खड़े हैं। पैंतीस शताब्दियों से भी अधिक समय से लक्सर में पूजा होती आ रही है। बस, समय के साथ-साथ नाम बदलते गए हैं—अमन, ईसा, अल्लाह। पूजा के लिए प्रेरित करनेवाली भावना आज भी उपस्थित है और यह स्थान आज भी उतना ही पवित्र है जितना ईसा से पन्द्रह सौ वर्ष पहले था। पांच हज़ार साल पहले के मिस्रवासी नैतिक सदाचार के उच्चतम सिद्धांतों को मानते थे। मृत्यु से पूर्व हर औसत मिस्री अपने देवताओं और सहयोगियों को विश्वास दिला देना चाहता था कि उसने नैतिक, आस्थामय जीवन व्यतीत किया है। अपने मृत्यु से पूर्व के स्पष्ट कथन में वे बार-बार यही कहते थे कि वे जीवन-भर सहृदय, दयालु और अच्छे पड़ोसी रहे हैं: "मैंने सधवाओं के बराबर ही विधवाओं को भी दिया था। मैंने छोटे-बड़े में भेद नहीं किया।" सभी धर्मों के समान, मिस्र की 'मृतक-पुस्तक' ('बुक ऑफ द डेड') में भी अत्यन्त विशिष्ट शैली में सदाचार की विशिष्टता के बारे में लिखा है: "मैंने किसीको रोने का कारण नहीं दिया। मैंने किसीसे क्रोधपूर्वक बात नहीं की। मैंने कभी किसीको आतंकित नहीं किया। मैंने कभी न्याय और सत्य से भरे-पूरे शब्दों को अनसुना नहीं किया।"[2] उन प्राचीन जागरूक व्यक्तियों का पथ-प्रदर्शन नैतिक सदाचार का एक उच्चतम आदर्श किया करता था।

यूनानी अपने दर्शन और साहित्य के लिए मिस्रियों के आभारी थे। कहा जाता है कि थेल्स, सोलन, पाइथागोरस, अबडेरा के डेमोक्राइटस और प्लेटो ने मिस्र की यात्रा की थी और मिस्री पुजारियों से शिक्षा ग्रहण की थी। यूं इस दृष्टिकोण का समुचित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि मिस्र और बैबिलोनिया के दर्शन और प्रभाव से अनुप्रेरित होकर ही यूनानी साहित्यिक उपलब्धियाँ संभव हो सकी थीं। लेखन-शैली और लेखन-सामग्री के

---

१. 'टिमियस', २१ अ–२५ द।

२. हम्मूरबी संहिता के प्राक्कथन में कहा गया है: "उस समय देवताओं ने मुझे, यानी हम्मूरबी को—जो अच्छे काम करनेवाला सेवक था, आवश्यकता पड़ने पर अपनी प्रजा की सहायता करता था, जो बहुलता और समृद्धि की कल्पना करता था,...जो निर्बलों पर बलवानों के अत्याचार नहीं होने देता था,...जो अपने राज्य को उजागर और प्रजा का कल्याण करता था—अपने पास बुला लिया।"

लिए भी यूनान मिस्र का आभारी था।[1]

यूनानियों की एकान्त विशेषता थी मानव-विवेक की शक्ति में आस्था। अपने नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोणों का तर्कसंगत आधार प्रस्तुत करने का प्रयास हमेशा उन्होंने किया है। उनके मस्तिष्क तर्कप्रधान थे। मानव विचार-धारा के क्षेत्र को सीमित करके यूनानियों ने सत्य के स्थान पर तर्क और आध्यात्मिक दृष्टिकोण के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्थापित किया।

यूनानियों और बर्बरों का भेदभाव वर्णगत या जातिगत नहीं है। भेद है मस्तिष्क की विशिष्टता का। यूनानियों को अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता में अगाध विश्वास था और, तुलनात्मक रूप से, वे जातिगत असहिष्णुता से मुक्त थे। यूनानी संस्कृति को स्वीकार कर लेनेवाले बर्बर यूनानी मान लिए जाते थे। उदाहरणतः, सेंट पॉल ने, जो यहूदी परिवार में जन्मे और बढ़े थे, सारे यहूदी अनुष्ठानों और पृथक्त्व की भावनाओं को त्याग कर यूनानी संस्कृति को स्वीकार कर लिया। ग्रीक भाषा और यूनानी जीवन-पद्धति अपना लेने पर अधीन जातियों को भी नागरिकता और सामाजिक समानता के अधिकार-प्रदान कर दिए जाते थे।

यूनानियों की दृष्टि में सत्ता और ऐश्वर्य प्राप्त करने से कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण था मानसिक शक्तियों का विकास और उपभोग। वे यूरोप के गुरु थे। प्रकृति के प्रति तर्कसंगत और सृजनात्मक दृष्टिकोण उनकी विशेषता थी। उनकी दृष्टि में दर्शन और विज्ञान लगभग एक ही थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक 'दर्शन' शब्द में वह सभी कुछ सम्मिलित था जिसे हम आज विज्ञान कहते हैं। दर्शन का उद्देश्य यथार्थ निरीक्षण का हलका-सा पुट देकर परस्परसम्बद्ध विचारों की एक शृंखला उपस्थित करना है, जबकि विज्ञान में यथार्थ निरीक्षण का अनुपात अधिक होता है।

यूनान के सर्वप्रथम विशिष्ट दार्शनिक थेल्स (६२५–५४५ ईसापूर्व) ही प्रारम्भिक ज्यामिति और खगोल के जनक थे। उनके समय के कई अन्य दार्शनिक और वैज्ञानिक भी थे, जिन्होंने पानी, हवा के सिद्धांतों या चार अनिश्चित तत्त्वों

---

१. प्राचीन काल से शायद ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी तक यूनानी साहित्य 'पैपाइ-रस' नामक झाड़ी से बने एक प्रकार के कागज़ पर लिखा और पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रखा जाता रहा था। मिस्र में इसका उपयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आ रहा था और यूनान में इसका आयात मिस्र से ही किया गया, क्योंकि दोनों आकार-प्रकार तथा कच्चे माल में समान थे।—'द लेगैसी ऑफ़ इजिप्ट'(१९४७), पृष्ठ ५४ में उद्धृत 'कम्पैनियन टु ग्रीक स्टडीज़' (पृष्ठ ६०६) से।

को मूल मानकर संसार की व्याख्या करने का प्रयत्न किया था। पाइथागोरस (५८२–५०० ईसापूर्व) एक महान वैज्ञानिक थे। सृष्टि में व्यवस्था और सामंजस्य है, इस सिद्धांत का आविष्कार करके उन्होंने मानव की संवेदनात्मक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट किया था। अपने समकोण त्रिभुज प्रमेय, रस्सी की लम्बाई, रंगों का अनुपात और गोलाकार पृथ्वी के विचार से उन्होंने सिद्ध किया कि ब्रह्मांड नियमबद्ध है। अपने से पूर्वकालिक वैज्ञानिकों के समान पाइथागोरस ने किसी सिद्धांत की खोज नहीं की, वरन् ब्रह्मांड को नियन्त्रित करनेवाले सुनिश्चित सम्बन्धों या नियमों पर ज़ोर दिया। वर्तुलों में सामंजस्य उनके लिए काव्यमय बिम्ब मात्र नहीं था, और इससे उन्हें सन्तोष था। एनैकसागोरस (५०६–४२८ ईसापूर्व) ने अपने 'आयनवादी' अग्रजों के स्पष्ट प्रथम सिद्धांतों के स्थान पर मस्तिष्क को रखा। उन्होंने गोचर संसार के कारणस्वरूप एक अगोचर प्रथम सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

अकादमी के सिंहद्वार पर दी हुई प्लेटो (४२७–३४७ ईसापूर्व) की विख्यात चेतावनी से गणित के प्रति उनके प्रेम का पता लगता है। यूनानियों में सर्वाधिक प्रभावशाली वैज्ञानिक अरस्तू (३८४–३२२ ईसापूर्व) थे। वे अनिवार्यत: एक प्रयोगशील दार्शनिक थे और तथ्यों को एकत्र करके विज्ञान के समस्त क्षेत्र में व्यवस्थित करते थे। अक्सर उन्हें आधुनिक विज्ञान का जनक कहा जाता है। उन्होंने तर्कशास्त्र, जन्तुविज्ञान और वनस्पति-विज्ञान की आधारशिलाएं रखीं। उन्होंने भौतिकी, काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान, अंतरिक्ष-विज्ञान, खगोल, भूगोल, नीतिशास्त्र और राजनीति पर लेखनी चलाई। लगभग इसी समय यूनानी औषध-विज्ञान का उदय हुआ। पश्चिमी संस्कृति को विज्ञान से अनुप्रेरित करने का श्रेय यूनानी विद्वानों को ही है। उन्होंने ही पश्चिम को बौद्धिक और नैतिक अनुशासन प्रदान किया।

यूनानी लोगोस में अनुपात, समन्वय और माप के प्रति जागरूकता थी। अपनी सौंदर्यपरक रुचियों को अभिव्यक्त करने की आकांक्षिणी पृथ्वी को यूनानी कला का सहारा मिला। मानवों, जन्तुओं और पौधों को चित्रित करने में यूनानियों ने अपनी कार्य-कुशलता लगा दी। यूनानी कला अन्य कलाओं—जैसे भारतीय कला, जो किसी अप्राप्य, किसी दूरस्थ, अपने से ऊपर किसी तक पहुंच सकने में प्रयत्नशील है—की तुलना में अधिक मानववादी है।

विवेकशील प्राणी की हैसियत से प्राप्त सम्मान के लिए आवश्यक है कि मानव अपनी राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं की तर्कसंगत आलोचना करे, राजनीतिक क्षेत्र में यूनानियों ने सदैव विवेकपूर्ण व्यवस्था स्थापित करने का यत्न

किया, अधिनायकवाद के विरुद्ध क्रान्ति की, और ऐसे समाज को स्वीकार किया जो अपनी सामाजिकता के प्रति जागरूक हो और स्वतंत्रतापूर्वक अपने कानून स्वयं बनाये। विवेकशील नागरिक स्वतंत्र है और केवल अपने द्वारा निर्मित कानूनों से नियंत्रित है।

व्यक्तिगत प्रेरणा को स्वतंत्ररूप से कार्यशील होने से रोकनेवाली हर संस्था से यूनानियों को चिढ़ थी। उनके अत्युक्तिपूर्ण व्यक्तिवाद का ही यह परिणाम था कि स्थानीय सरकारों के क्षेत्र के अलावा वे अन्य प्रभावशाली राजनीतिक संस्थाएं स्थापित करने और उन्हें चलाने में सफल नहीं हो सके। फारसियों के विरुद्ध युद्ध में यूनानी एक एकाधिकारी सम्राट की असीम शक्ति के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता के प्रति जागरूक स्वतंत्र व्यक्तियों की हैसियत से लड़े थे।

यूनान का विकास वास्तव में 'पौलिस' (नगर) का विकास था। यूनान नगरों का समूह था और प्रत्येक नगर एक स्वाधीन, पृथक्, सम्प्रभुताप्राप्त राज्य था। नगरों में परस्पर युद्ध होते रहते थे और नगरों के भीतर इतने भयानक वर्ग-संघर्ष होते थे कि चौथी सदी ईसापूर्व में अनीस टैसीटस ने शत्रुओंसे घिरे नगरों के सेनापतिओं के लिए लिखी गई नियमावली में आगाह किया था कि शहरपनाह से बाहर के शत्रु जितने खतरनाक होते हैं उतने ही भीतर के भी।

दुर्भाग्यवश, यूनानी लोग आदिकालीन समाज की कुरीतियों से राजनीति और अर्थशास्त्र को बांधनेवाली ज़ंजीरें तोड़ नहीं सके। स्वाधीन यूनानियों ने भारी संख्या में गुलाम बना रखे थे।

यूनानी नगर-राज्यों को अपनी निरंकुशता को व्यवस्थित करने की रीति मालूम नहीं थी। वे ऊंचे उठकर यूनानी राष्ट्र की बात तक न सोच सके; वे संघटित होकर एक राज्य का निर्माण न कर सके, जो उनकी समस्याओं को सुलझा सकता। मानव-प्रगति के अस्पष्ट इतिहास पर आज भी रोक लगानेवाली उग्र राष्ट्रवादिता यूनान की ही देन है।

विवेकशीलता, मानववाद और नागरिक गुण यूनानियों की विशेषता थे। होमर, एसाइलस, एरिस्टोफेन्स, पेरीक्लीज़ थ्यूसीडाइड्स, प्लेटो और अरस्तू, पिंडार, साइमोनाइड्स यूनानी मानववाद के प्रतिनिधि हैं।

जैकब बर्कहार्ट ने यूनानी कला पर अपने एक भाषण का समापन करते हुए यूनानी देवताओं की संगमरमरी प्रतिमाओं के चेहरों पर लक्षित उदासी के बारे में वैटिकन हर्मेज़ से कहला दिया था : "आपको आश्चर्य है कि मैं सतत आनन्द और चिरन्तन सुख में रहनेवाले ओलम्पिक-वासियों में से एक—इतना उदास हूं ? सचमुच हमारे पास सब कुछ था : महिमा, स्वर्गिक सौन्दर्य, अनन्त यौवन,

शाश्वत आनन्द और फिर भी हम सुखी न थे···हम केवल अपने लिए जीवित थे और शेष सभी को प्रताड़ित करते थे।···हम भले नहीं थे, और इसीलिए हमें विनष्ट होना पड़ा," इतिहास की समस्याएं बड़ी सरल किन्तु फिर भी बड़ी कुटिल होती हैं। कोई भी बुद्धिमान यूनानी समझ सकता था कि पेलोप्पोनीशियाई युद्ध के बाद विजेता और विजित दोनों ही विदेशी शत्रुओं के हाथों में पड़ जाएंगे। किन्तु मानव-स्वभाव ही ऐसा है कि एथेन्स और स्पार्टा एक नहीं हो पाए और भाई-भाई की लड़ाई से लाभ केवल फारसियों और मकदूनियाइयों को हुआ। जो समस्या आज हमें आसान मालूम पड़ती है, उसीका समाधान यूनानी नहीं प्राप्त कर सके और परिणामस्वरूप मकदूनियाई और रोमक शक्तियों के पाटों के बीच पिस गए। यूनानियों के विनाश का कारण था उनकी एक होने की अयोग्यता।

उस युग में सभ्यता की परम्परा को अग्रसर करनेवाली दूसरी समितियां थीं। आज की स्थिति भिन्न है। सामूहिक विनाश के आधुनिक शस्त्रों से युद्ध का अर्थ यदि यह नहीं है कि पृथ्वी पर सम्पूर्ण जीवन का विनाश हो जाए, तो सामूहिक आत्महत्या तो अवश्य है। द्वेष-भावनाओं में उबाल आने लगता है तो शान्ति की रक्षा के लिए केवल परिणामों की तर्कसंगत आशंका पर भरोसा नहीं किया जा सकता। विश्व के मस्तिष्क पर अतीत का बोझ अभी भी भारी है। एक हो पाने की असफलता का कारण ज्ञान की कमी नहीं है, वरन् लड़खड़ाती नैतिकता और सद्भावना की कमी है। यदि हम अच्छी तरह समझ लें कि हमारे सामने दो ही रास्ते हैं—सद्भावना या समूल विनाश—और सद्भावना के लिए प्रयत्नशील बनें तो हमारे पूज्य देवता ओलम्पियाई देवताओं के समान उदास नहीं प्रत्युत प्रसन्न होंगे।

यूनानियों की धर्म-सम्बन्धी धारणा शासन की पूजा और परम्परागत सहिष्णुता तक ही सीमित नहीं थी। आदिकाल से चली आ रही भावना से बिलकुल अलग एक भावना ने जन्म लिया, एक 'अदृश्य सत्य' को पहचानने की ललक जनमी, इस संसार के आकार-प्रकारों से अलग हटने की भावना जागी। मान्यता-प्राप्त यूनानी दर्शन से बिलकुल अलग और उपनिषदों के दर्शन के इतने समान यह परम्परा 'ऑर्फी' और 'एल्यूशीनियाई' रहस्यवाद, एम्पीडोक्लीज़ (५००–४३० ईसापूर्व), पाइथागोरस, और प्लेटो में विद्यमान है तथा वे सभी पुनर्जन्म-सिद्धान्त, परम्परा के उच्चासन से आत्मा का पतन, आत्मा की वर्तमान निर्वासन-स्थिति, और तप-योग द्वारा सात्त्विकता और परमानन्द की मूल दशा में पुनः पहुंचने की संभावना पर विश्वास करते हैं। इस परम्परा और उपनिषदों के विचारों की समानता से यह अर्थ नहीं कि उनके उद्गमों में भी साम्य है।

एल्यूशीनियाई रहस्यमय समारोह 'दिमीतर' अर्थात् 'जीवनधारिणी माता' के सम्मान में होते थे। सर जॉन मायर्स के अनुसार पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेशों में दिमीतर की पूजा 'उतने ही पुराने समय से होती आ रही है जितने पुराने का ज्ञान हमें अभिलेखों अथवा स्मारकों से लगता है।' अनातूलिया की प्राग्भारतीय यूरोपीय संस्कृति पर भाषण देते हुए सर जॉन मायर्स ने कहा था : "लगता है कि जहां कहीं भी उस संस्कृति ने प्रवेश किया, भरे-पूरे शरीरवाली नारी मूर्तियां भी वहां पहुंच गई, जो शायद उससे घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित थीं। इनसे उनकी प्रकृति-पूजा के प्रकार का पता चलता है, 'एशिया की महामाता' सम्प्रदाय उसका एक विशिष्ट रूप है जो भारतीय-यूरोपीय धर्म के सभी अनगढ़ रूपों में पाए जाने वाले 'पिता-देवता' के बिलकुल विपरीत है[1]।" 'माता देवी' पौधों, जन्तुओं और मानवों को जीवन और समृद्धि प्रदान करनेवाली फलवती धरती की प्रतीक है।

इसके अलावा, डायनीसियाई धर्म होमर के बाद के समय में थ्रेस से विदेशी आक्रामक की भांति यूनान पहुंचा, जहां उसका काफी विरोध हुआ। इस धर्म में रात्रि-कालीन आमोद-प्रमोद, नृत्य-लास का प्राधान्य था। विश्वास किया जाता था कि इस धर्म के अनुयायियों के सिर पर देवता 'आते' हैं, जिसके कारण, क्षण-मात्र के लिए, मशालों, शराब, संगीत और नृत्य के प्रभाव में, पूजार्पण करनेवाला स्वयं को अपने से बाहर एक दैवी स्तर पर उच्चासीन समझने लगता था। डायनीसियस चरमोल्लास का देवता था और उसका 'समारोह' रात्रि में होता था,[2] और स्त्रियां ही उसकी सबसे अधिक और सबसे विशिष्ट अनुयायी थीं। इस समारोह का अन्त स्वयं में एक अनुभव था। दिमीतर के प्रति होमर की स्तुति में कहा गया है : "वह भाग्य-शाली है जिसने इन चीज़ों को 'देखा' है।" थ्रेसी धर्म का योगदान है चरमोल्लास तथा अमरत्व में विश्वास। थ्रेसी लोग एक भारतीय यूरोपीय भाषा बोलते थे और उनका विश्वास था कि मानव की आत्मा अनिवार्यतः दैविक है।

ऑर्फ़ियस का जन्म चाहे जो रहा हो, यूनानी इतिहास में उनका स्थान एक पैगम्बर और गुरु का है। उनके सिद्धान्त एक संकलन में मौजूद हैं। इस सिद्धान्त के उद्धरण छठवीं से चौथी शताब्दी ईसापूर्व की रचनाओं, एम्पीडोक्लीज़, यूरीपिडीज़[3]

---

१. 'इन यूरोपियन सिविलाइज़ेशन', सम्पादक आयर (१९३५), पृष्ठ १५०, २४१। सिंधु और वैदिक सभ्यताओं में 'माता देवी' की पूजा प्रचलित थी।

२. यूरीपिडीज : 'बाक़ी', ४८६।

३. यूरीपिडीज़ कृत 'हिपोलाइटस' में थीसियस अपने बेटे पर इस बात को लेकर व्यंग्य करता है कि ऑर्फ़ियस के मतानुसार वह तपस्वी का जीवन बिताने लगा है। 'एलसेस्टिस' में 'कोरस' कहता है कि 'उन्हें भाग्य के प्रहार का कोई निदान पता नहीं चला है, और न धर्मात्मा

(४८४–४०७ ईसापूर्व), प्लेटो[1], पिंडार (५२२–४४३ ईसापूर्व) और दक्षिणी इटली की कब्रों पर लगी सोने की तख्तियों पर मिलते हैं। इन विभिन्न स्रोतों से हम समझ पाते हैं कि ऑर्फ़ियाई जीवन-प्रणाली में तप-साधन, मांसाहार के निषेध, आत्मानुशासन से मोक्षप्राप्ति आदि तत्त्व सम्मिलित थे। इस मत का विश्वास था कि न्यायी लोगों को पुरस्कारस्वरूप चरमानन्द तथा अन्यायी लोगों को दंड मिलता है। ऑर्फ़ियाई कब्रों पर पाई गई पट्टियों पर मृत व्यक्ति की आत्मा को इस प्रकार सम्बोधित किया गया है : "तुम मानव से देवता बन गए हो।" ऑर्फ़ियाई रीतियों के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर एफ़० एम० कॉर्नफ़र्ड ने लिखा है : "ईश्वर की महती कृपा प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि है धर्मविधि-उत्सव, जिसमें सम्पूर्ण कष्ट सहन करने, मरने और पुनर्जीवन के पश्चात् ईश्वर का अंश मानव-आत्मा को प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार पुनर्जन्म के चक्र से उसकी मुक्ति निश्चित हो जाती है।"[2] इन रहस्यों से साक्षात्कार करनेवालों का पुनर्जन्म माना जाता है। वे देवताओं के समकक्ष हो जाते हैं। सबसे आवश्यक कर्तव्य है अवलोकन, निरीक्षण। इन्हीं रहस्यों से दो प्रकार के प्राणियों के भाग्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है—उनका अनुभव करनेवाले का सौभाग्य और उनसे अछूता रह जानेवाले का दुर्भाग्य।[3]

एल्यूशीनियाई, डायनीसियाई और ऑर्फ़ियाई मतों के सिद्धान्त अनिवार्यतः होमरी धर्म के सिद्धान्तों से काफी भिन्न हैं। होमरी देवताओं के समक्ष मानव के लिए आवश्यक है कि वह स्वयं को अनादृत करे। देवताओं और मानवों के सम्बन्ध बाह्य हैं। देवताओं के साथ सीधा सम्पर्क असंभव है। मानव अनिवार्यतः देवताओं से निम्नकोटि के हैं, इसलिए स्वयं देवत्व की कामना नहीं कर सकते। पिंडार का कथन है : "ज़्यूस बनने की कल्पना मत करो।" उन्होंने ही कहा है : "नश्वरों के लिए नश्वरता ही पर्याप्त है।" और पुनः कहा है : "नश्वर मनुष्यों को अपनी हैसियत मालूम है और मालूम है कि उन्हें अपने जीवन में कितने अंश की प्राप्ति होनी है, इसीलिए उन्हें देवताओं के दान को स्वीकार कर लेना चाहिए। अतः हे मेरी आत्मा, अमर जीवन की कामना न करके उपलब्ध साधनों का समुचित उपयोग करो।"[4] यूरीपिडीज़ कृत 'बाक़ी' में कोरस कहता है : "अपनी नश्वरता की

ऑर्फियस द्वारा अंकित ऐसी पट्टिकाओं में कोई आकर्षण दिखलाई पड़ा है।'

१. 'क्रेटाइलस' ४२०-ब; 'फाइलेबस' ६६-स; 'लाज़' २, ६६९-द; ८, ८२१-द। 'रिपब्लिक' २, ३६४-ई; 'आयन' ५३६-ब।

२. 'कैंब्रिज ऐन्शेंएट हिस्ट्री,' खंड ४, (१९२६), पृष्ठ ५३८।

३. देखिये 'बृहदारण्यक उपनिषद्' ३-८-१०।

४. डब्ल्यू० के० सी० गुथरी कृत अंग्रेज़ी अनुवाद : 'द ग्रीक्स ऐंड देयर गॉड्स' (१९५०), पृष्ठ ११३-११४।

बात भूल जाना मनुष्य का चातुर्य हो सकता है, विवेक नहीं।[1]

रहस्यात्मक धर्मों का विश्वास है कि साधक और साध्य के बीच ऐक्य संभव है। डायनीसियाई चरमानन्द में, व्यक्ति की आत्मा स्वयं को अकेलेपन से ऊपर उठा हुआ अनुभव करती है और इसलिए, अपनी उद्दाम अनुभूति की चरमसीमा पर, वह स्वयं को 'बाकोज़' अर्थात् अनुप्रेरक देवता के साथ एकाकार समझने लगती है। इस धार्मिक कृत्य से केवल एक अस्थायी आनन्दानुभूति होती है। ऑर्फ़ियाई सम्प्रदाय के अनुयायियों का प्रमुख विश्वास है मानव आत्मा का छिपा हुआ देवत्व। आत्मा अपना अन्तिम आकार ग्रहण करने के पश्चात् पार्थिव शरीर में लौटकर नहीं आती। वह कहती है : "मैं अब दुःखदायी चक्र से बाहर उड़ आई हूं।" "अब मैं ईश्वर हूं, नश्वर नहीं।" रहस्यात्मक धर्मों की कष्ट-सहन में अटूट आस्था है, उनके अनुसार यह जीवन का नियम है, और मानवीय प्रतिष्ठा की अनुभूति के लिए आत्मा की मर्मान्तिक पीड़ा अत्यन्त आवश्यक है। अन्तरिक्ष-सम्बन्धी ऑर्फ़ियाई कल्पना में ब्रह्मांड को अंडाकार माना गया है (यही विचार ऋग्वेद में भी पाया जाता है)। ऑर्फ़ियाई धर्म में मुक्ति के लिए आत्मा की यात्रा की कल्पना भी है। यूनानियों ने एक सार्वभौम विश्वास के प्रति अदम्य आस्था का विकास नहीं किया बल्कि कुछ शक्तियों और देवताओं में उनका विश्वास था, जो अपने व्यवहार में मानवों जैसे तथा लालसाओं के दमन में अत्यन्त कमजोर थे। इसके विपरीत ऑर्फ़ियाइयों का विश्वास एक सर्वव्याप्त आध्यात्मिक सत्य में था। एक मशहूर ऑर्फ़ियाई कहावत है—"ज़्यूस ही आदि, मध्य और अन्त है।"[2] तप-साधनामय जीवन पर ज़ोर, पुनर्जन्म और मोक्ष में विश्वास, मानव और परमात्मा के बीच तादात्म्य की संभावना तथा अन्धविश्वासों आदि के विवरणों से—जो न तो यूनानी हैं और न सेमेटिक—ऑर्फ़ियाई धर्म पर कोई विदेशी, संभवतः भारतीय, प्रभाव लक्षित है।[3]

---

१. ३६५ के बाद के फोलियो।

२. वार्नर जीगर : 'द थियोलोजी ऑफ़ अर्ली ग्रीक फ़िलास्फ़र्स' (१६४७), पृष्ठ २६।

३. "एल० वॉन श्रूडर और फ़र्ट वैंग्लर के इस विचार के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है कि ऑर्फ़ियाई सिद्धान्तों का नैतिक स्तर पाइथागोरस के कारण था, जिन्होंने भारतीय स्रोतों से बहुत कुछ ग्रहण किया था।" कान्वे "ऐन्शेएट स्टडी ऐंड माडर्न रिलीजन(१६३३), पृष्ठ २७-२८। आयर : मिस्री, फारसी और भारतीय सांस्कृतिक प्रभावों को यूनान अत्यन्त प्राचीनकाल से ग्रहण करता रहा है।"—'पोलिटिकल थाट' (१६३६)। भारत और यूनान के निकट-सम्बन्धों के बारे में प्रमाण है; क्योंकि दोनों कुछ समय तक फारसी साम्राज्य के अंग रहे थे। हेरोडोटस (III-६१-३) ने दास द्वितीय के अधीन जातियों की सूची में भारत की सीमा पर रहनेवाली जातियों का नाम भी लिखा है।

समग्री यूनानी समाज ने कभी रहस्यात्मक धर्मों को स्वीकार नहीं किया। ये धर्म सदैव नगण्य और विदेशी माने जाते रहे। धर्म-संचालन राज्य द्वारा अपने हितार्थ होता था। नागरिक की हैसियत से प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना पड़ता था। गार्हस्थ्य जीवन में उसे हर्मेज़ या अपोलो की पूजा करने की स्वतंत्रता थी। रहस्यात्मक धर्म चूंकि अनिवार्यतः व्यक्तिगत थे और राज्य की सत्ता की उपेक्षा करते थे, इसलिए उन्हें धर्म नहीं, अंधविश्वास माना जाता था।

रहस्यात्मक धर्मों को यूनानियों से पूर्व गैर-यूनानी एशियाई प्रभावों के कारण जनमा समझा जाता था, जिनपर बाद में होमरी देवता लाद दिये गये।[१] यूरीपिडीज़कृत 'बाक़ी' में लिखा है कि डायनीसस मत 'एशिया की धरती' से आया था। सम्पूर्ण नाटक में इस धर्म के गैर-यूनानी उद्भव पर ज़ोर दिया गया है। पेन्थ्यूज़ के एक प्रश्न के उत्तर में छद्मवेषी डायनीसस कहता है : "हर बर्बर (ग़ैर-यूनानी) इन रीतियों को मानता है और नाचता है।" "हां," पेन्थ्यूज़ उत्तर देता है : "क्योंकि वे यूनानियों से ज़्यादा बेवकूफ़ हैं।" "नहीं, इस बात में अधिक बुद्धिमान हैं, सिर्फ रीति-रिवाज भिन्न हैं।" यूनानियों ने शीघ्र ही इस धर्म को स्वीकार

---

१. निल्सन ने अपनी पुस्तक 'होमर ऐंड माइसेनी' में लिखा है : "यूनानी धर्म के महान विरोधाभास जातीय प्रवृत्ति के हैं, तथा धर्म के संवेदनात्मक या रहस्यात्मक रूपों का उद्भव यूनानियों से पहले के समय में हो चुका था।" (पृष्ठ ८०)। फिर भी, आयर द्वारा सम्पादित 'यरोपियन सिविलाइज़ेशन', प्रथम खंड (१९३५), पृष्ठ ५३६ में ए० डब्ल्यू० गोम का कथन देखिए : "यूनानी सभ्यता और विशेषतः यूनानी धर्म को देश के दो जातीय तत्त्वों के अनुसार (जैसे केवल दो तत्त्व ही हो सकते थे) दो तत्त्वों में विभाजित करना, और एक को भारतीय-यूरोपीय, यूनानी, उत्तरकालीन तथा दूसरे को अ-भारतीय-यूरोपीय, गैर-यूनानी आदि नाम देना सर्वदा अवैज्ञानिक है। यूनानी धर्म कब प्रचलित हुआ, या वह गैर-यूनानी धर्म के बाद ही हुआ, यह कहना और अधिक अवैज्ञानिक है।...यूनान पर भारतीय-यूरोप आधिपत्य तो अवश्य स्थापित हुआ था किन्तु उसका समय अनिश्चित है।"

फ़ार्नेल का विश्वास है कि यूनानी धर्म अनिवार्यतः राजनीतिक और अ-रहस्यात्मक था। वे कहते हैं : "मैं केवल यही संकेत करना चाहता हूँ कि उत्तरकालीन मिस्री ज्ञानवाद के समान ब्रह्मवाद की कोई विस्तृत प्रणाली विशुद्ध यूनानी विचारधारा में न थी। नव-प्लैटोवादी युग में अवश्य ऐसा हुआ किन्तु तब तक यूनानी बुद्धि विशुद्ध नहीं रह गई थी। पूर्वकालीन यूनानियों के धार्मिक मानस और शब्दभंडार में भी हमें रिक्तता ही दीखती है: आज जिसे हम 'आस्था,'—देवत्व की सम्पुष्टि करनेवाले कुछ सिद्धान्तों की बौद्धिक स्वीकृति तथा धार्मिक अंगीकृति—कहते हैं, इस प्रकार का कोई विचार उनके पास न था, और न इसका कोई नाम था, और इस बारे में वे केवल ईसाइयों से ही नहीं वरन् फारसियों और बौद्धों से भी अनिवार्यतः भिन्न थे।" 'ग्रीस ऐंड बैबीलोन', (१९११), पृष्ठ २३-२४।

कर लिया और अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति का प्रयोग करके उन्होंने 'माता साइ-मेलो' को थीबीज़ की राजकुमारी बना दिया, क्योंकि उनके विचार से थीबीज़ ही पहला यूनानी नगर था, जहां ये धार्मिक कृत्य पहुंचे थे। हेरोडोटस का विचार है कि डायनीसस मिस्र से यूनान पहुंचा था।[१] रहस्यात्मक धर्म में सभी धर्मों के प्रति आदर करना सिखाया जाता था और उनकी प्रवृत्ति रूढ़ न थी। इसके विपरीत होमरी या ओलम्पिआई धर्म अपने को ही अन्यतम मानता था।[२]

पाइथागोरस ने रहस्यात्मक और तर्कयुक्त प्रवृत्तियों का सामंजस्य स्थापित करने का सचेत प्रयत्न किया था। उनके विचार का आधार 'पेराज़' (सीमा) का उदात्तीकरण है। संगठन और कानून के प्रति हार्दिक निष्ठा भी इस विचार में मौजूद है। सृष्टि एक 'कॉस्मॉस है। स्थूल-जगत् की व्यवस्था को समझने के बाद, उसके नमूने पर सूक्ष्म जगत् में भी उसी प्रकार की व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। अपनी आत्मा को संवारना मानव का प्रथम कर्तव्य है। पाइथागोरस का विश्वास था कि वस्तुजगत् की वास्तविक और ग्राह्य प्रकृति केवल समानुपात और संख्या में मौजूद है। उनके विचार से गणित और संगीत का परस्पर सम्बन्ध है। अपोलो संगीत का देवता है। पाइथागोरस ने एक धार्मिक समाज की स्थापना की थी, जिसका एक निश्चित जीवन-विधान था। इस समाज का उद्देश्य एक शब्द 'कैथार्सिस' में व्यक्त है। इसे अंशतः तो कुछ निषेधों को मानने तथा अंशतः दर्शन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। पाइथागोरस का सिद्धान्त था: "इस संसार में हम अजनबी हैं और शरीर आत्मा का मकबरा है, फिर भी आत्माहनन मुक्तिपथ नहीं है। कारण, हम ईश्वर की चल सम्पत्ति हैं, ईश्वर ही हमारा रखवाला है, और उसकी आज्ञा के बिना भागने का हमें कोई अधिकार नहीं है।"[३] पुनर्जन्म, पशुओं के वध पर प्रतिबंध, शाकाहारी भोजन, तप-साधना द्वारा शुद्धीकरण, मनन अथवा थ्योरिया की आवश्यकता-सम्बन्धी उनके विचार यूनानी कम हैं, भारतीय अधिक।

---

१. कहा जाता है कि डायनीसस ने कहा था: "लीडिया की स्वर्ण-मंडित धरती और फ्राइजिया को छोड़कर...मैं सबसे पहले यूनानियों के इस नगर में आया हूं और मेरा उद्देश्य है अपने मत को स्थापित करके नृत्योल्लास का आयोजन करना।"

२. मैकाले की टिप्पणी प्रसिद्ध है: "दो सर्वाधिक प्रसिद्ध प्राचीन राष्ट्रों की प्रवृत्तियां विशिष्ट रूप से अद्वितीय हैं।...तथ्य शायद यही है कि यूनानी केवल अपने प्रशंसक थे और रोमवासी केवल अपने तथा यूनानियों के।"—'मिसलेनियस राइटिंग्स' में इतिहास, खंड १, (१८६०), पृष्ठ २६३।

३. जे० बर्नेट: 'अर्ली ग्रीक फ़िलासफ़ी' (१९३०), पृष्ठ ९८।

एम्पीडोक्लीज़ का कथन है कि उन्हें अपने पूर्वजन्मों की स्मृति थी। उनके अनुसार, सत्य की प्राप्ति का साधन चिन्तन-मनन है। धर्मप्राण तपस्वियों की आत्माओं को उनका देवत्व पुनः प्राप्त हो जाता है। एम्पीडोक्लीज़ का कहना है: "ऐसे लोग नश्वर प्राणियों में द्रष्टा, कवि, शासक और चिकित्सक बन जाते हैं और अन्ततः महामान्य देवतास्वरूप हो जाते हैं।"[1] उन्होंने हार्दिक आनन्द के स्वरों में अपने सहनागरिकों का अभिनन्दन करते हुए कहा था: "आप सबका स्वागत है! मैं आपके बीच उपस्थित हूं—नश्वर मानव नहीं, अमर देवता बनकर!"[2]

यूनान के सबसे महान दार्शनिक सुकरात ने किसी विचार-पद्धति की स्थापना नहीं की, ग्रंथों की रचना नहीं की, किसी सिद्धान्त की शिक्षा नहीं दी। सुकरात की जीवन-पद्धति तो है किन्तु कोई सुकराती सिद्धान्त नहीं है। वे बाज़ार में लोगों से मिलते, उनके विचार जानने का प्रयत्न करते, उन्हें विचार करने की शिक्षा देते, और अपने कार्य की तुलना दाई के कार्य के साथ करते जो दूसरों के विचारों को जन्म लेने में सहायता करती है। सुकरात ने ही पश्चिमी मानव को विश्वास दिलाया कि उसके भीतर एक आत्मा है—जो सामान्य जागरितावस्था की बुद्धि और नैतिक चरित्र की आधारशिला है—और वह मानव की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ है और मानव को उसका अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिए। अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होंने अपने मित्रों से कहा था कि आत्मा अविनाशी है और मृत्यु उसका स्पर्श तक नहीं कर सकती। आत्मा का आदि शरीर के साथ नहीं हुआ, इसलिए शरीर की मृत्यु के साथ उसका अन्त भी नहीं होगा। सुकरात का अन्तिम कथन प्रसिद्ध है: "मैं एथेन्सवासी अथवा यूनानी नहीं, विश्व-नागरिक हूं।"

प्लेटो की दृष्टि में आत्मा व्यक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, क्योंकि उसका सम्बन्ध शाश्वत जगत् से है, नश्वर जगत् से नहीं। उसका जीवन अनन्त है। मृत्यु कोई बुराई नहीं, शरीर-कारागार से मुक्ति है, जिसके बाद आत्मा विचार-संसार में पुनः पहुंच जाती है जिसके साथ पृथ्वी पर जन्म लेने से पहले उसका नाता था। जन्म से थोड़ा पहले वह वैतरणी का पानी पी लेती है और दूसरे संसार का अधिकांश या सम्पूर्ण ज्ञान विस्मृत कर बैठती है। यहां की वस्तुओं के ज्ञान से उसे अपने किसी समय के सम्पूर्ण और दोषरहित ज्ञान का हलका-हलका आभास होता है। इस जगत् में प्राप्त सम्पूर्ण ज्ञान पुनःस्मृति-मात्र है। चेतन जगत् से ऊपर उठने में सफल हो जाने के बाद उसे सम्पूर्ण रूपों का आभास पुनः होने लगता है। मानव

१. बी.१४६। 'फ़िलासफ़ी ईस्ट ऐंड वेस्ट', अप्रैल १९५४, पृष्ठ ३९ में ए० एन० मार्लो द्वारा डायेल्स का उद्धरण।

२. 'फ्रैगमेंट', ११२-४।

का उद्देश्य 'परमात्मा के साथ यथासंभव पूर्ण ऐक्य-स्थापना'[1] ही होना चाहिए। प्लेटो के मतानुसार मृत्यु के लिए तैयारी का नाम दर्शन है, क्योंकि उसीके कारण आत्मा इस योग्य हो जाती है कि एक बार फिर वह मानव-शरीर की सीमाओं में वापस आने का दंड पाने के बजाय स्थायी रूप से विचारों के संसार में ठहरी रहे।

"ज्ञान एक गुण है"—सुकरात के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते समय प्लेटो 'ज्ञान' को चेतन जगत् का ज्ञान नहीं, वरन् इससे परे के अत्यन्त श्रेष्ठ जगत् और परम यथार्थ—जिन्हें 'विचार' कहा जाता है और चेतन जगत् जिसका एक अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र है—का ज्ञान समझते हैं। हमारे विचारों का योग और सर्वोत्कृष्ट विचार है 'शुभ का विचार' अर्थात् ईश्वर। ईश्वर को अनुभूति या बुद्धि के सहारे नहीं, बल्कि आध्यात्मिक पुनर्जन्म अथवा ईश्वर में विलीन हो जाने के प्रयत्न से पहचाना जा सकता है। मानव-आत्मा की गतिमय शक्ति है 'इरोस,' अर्थात् प्रेम, जो अनेक अवस्थाओं को पार करके उस 'दैवी सौन्दर्य' के प्रति लालसा में बदल जाता है और यह 'दैवी सौंदर्य' स्वयं 'सत्य' है।

सत्य के सम्बन्ध में प्लेटो का विचार परम्परागत यूनानी विचार नहीं है। शरीर आत्मा का मकबरा है, और शरीर त्याग करने के बाद एकाकीपन में ही आत्मा अपना वास्तविक रूप ग्रहण कर पाती है।[2] तब वह यथार्थ की ओर उन्मुख होकर सत्य की प्राप्ति करती है। अपने भटकाव के इस लम्बे दौर के बाद जब आत्मा इस सम्पूर्ण सत्य की स्थिति में पहुंच जाती है, तब वह अजर-अमर तथा अपरिवर्तनीय बन जाती है। सत्य सदैव हमारी आत्मा में निहित है, किन्तु सामान्य व्यक्ति को इसका पता नहीं रहता और वह सचमुच जागरित नहीं होता।[3]

प्लेटो ने भविष्य-ज्ञान को दो श्रेणियों में रखा है। एक तो उस भविष्यवक्ता की सचेत कला, जो लक्षणों और शकुनों का विश्लेषण सीख चुका है और चिड़ियों के उड़ने या बलि दिए गए पशु की आंतों को देखकर देवताओं की इच्छा बता सकता है—वह कुछ सिद्धियां प्राप्त कर चुका होता है जिनके बल पर ईश्वरेच्छा जान पाने का दावा करता है, फिर भी वह स्वयं पूर्णतः संयत रहता है। दूसरी है प्रेरणाजन्य भविष्यवाणी। पैगम्बर स्वयं अपना व्यक्तित्व नहीं रह जाता। उसपर देवता का प्रभाव हो जाता है और उतने समय के लिए वह देवता की बात को दोहरानेवाला यन्त्र-मात्र रह जाता है। अपोलो की पाइथियाई भविष्यवाणी करनेवाली महिला इसी प्रकार की थी।[4] 'सिम्पोज़ियम' में 'अथानासिया' से हमें

१. 'थियेटीटस' १७६–बी।
२. 'फीडो' ६५–ए।
३. 'मीनो' ८०–ई।
४. देखिए 'फीड्रस' २४४–ए–डी। 'कठोपनिषद्', तृतीय वल्लरी।

उपनिषदों में व्यक्त मोक्ष के सिद्धान्त की याद बरबस आ जाती है।

उपनिषदों के समान, 'रिपब्लिक' में व्यक्त 'ब्रह्म' अथवा 'सत्' तथा 'टिमियस' में व्यक्त 'देम्यूरजूज़', अथवा 'गॉड' व सर्जक (ईश्वर) या ब्रह्मांड की आत्मा (हिरण्यगर्भ)[1] में अन्तर है। उनकी अकादेमी में तीन मौलिक सिद्धान्तों—प्रथम कारण अथवा ब्रह्म, तर्क अथवा 'लोगोस' और ब्रह्मांड की आत्मा अथवा परम आत्मा—को तीन देवता माना गया है जो अपने अज्ञात जन्मकाल से ही परस्पर आबद्ध हैं। 'लोगोस' को तो विशेष रूप से संसार के सर्जक एवं नियंता 'अविनाशी पिता' के पुत्र के रूप में माना गया है।

सुकरात ने प्लेटो की 'रिपब्लिक' में आदर्श राष्ट्रमंडल का वर्णन किया है, और जब उनसे पूछा गया कि इस प्रकार का राष्ट्र कहां पाया जाता है तो उन्होंने कहा कि इस आदर्श के अनुरूप राज्य पृथ्वी पर कहीं नहीं है। "किन्तु शायद स्वर्ग में ऐसा कुछ है जो केवल उसे दीख सकता है जो देखना चाहे और देखने के बाद अपनी आत्मा में भी वैसा ही नगर बसाने का यत्न करे। यह कहीं स्थित है या नहीं अथवा कभी होगा भी या नहीं, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। कारण, उस प्रकार का व्यक्ति तो उसी प्रकार के नगर में रह सकेगा, किसी अन्य में नहीं।"[2] 'रिपब्लिक' में वर्ग-व्यवस्था के तीन आधार माने गए हैं—विवेक, भावना और इच्छापूर्ति—और इनसे तत्काल भारतीय वर्ण-व्यवस्था की याद आती है।

प्रेरणा और पुनर्जन्म-सम्बन्धी सिद्धान्तों के अतिरिक्त प्लेटो ने रथचालक और घोड़ों की उपमा ली है तथा चेतना के स्तरों[3] की बात की है। इनमें और उपनिषदों की शिक्षाओं में अद्भुत साम्य है।

होमरी और ऑर्फ़ियाई प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण प्लेटो के आत्मा-संबंधी मत में अंतर्विरोध है।[4] "प्लेटो के मुख्य सिद्धान्त तथा स्वर्ग-नरक सम्बन्धी कथाओं

१. देखिए—'द प्रिंसिपल उपनिषद्स' (१९५३), पृष्ठ ५२-७२। (एलेन ऐंड अनविन)

२. १.५९२ बी०।

३. 'मांडूक्योपनिषद्' में वर्णित चेतना के विभिन्न स्तर प्लेटो के लेखों में हैं। "नहीं, मैं और आगे बढ़कर कहना चाहता हूँ कि आधा जीवन हम सोकर बिताएं और आधा जागकर, तथा दोनों अवधियों में हमारे मस्तिष्कों को अपने विचारों पर पूर्ण विश्वास हो तो वे अवश्य ही यथार्थ और सत्य होंगे, यही कारण है कि हम दोनों की सत्यता पर बराबर ज़ोर देते हैं।" 'थियेटेटस' १५३ डी०।

४. प्रोफेसर जे०ए० स्टीवर्ट ने लिखा है: "प्लेटो की मुख्य रुचि निस्सन्देह व्यक्तिगत मोक्ष के आदर्श में थी, जिसकी प्रेरणा उन्हें ऑर्फ़ियाई स्रोतों से मिली थी। प्लेटोवाद के इसी ऑर्फ़ियाई तत्त्व ने बाद के दर्शन पर और विशेषरूप से ईसाई धर्म के सिद्धान्तों और विचारों पर, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला।" 'द मिथ्स ऑफ प्लेटो' (१९०५), पृष्ठ ३५५।

के अधिकांश वर्णनों का आधार ऑर्फ़ियाई स्रोतों पर आधृत पिंडार के विवरण हैं।"[1] ऑर्फ़ियाई विश्वासों का प्लेटो पर गंभीर प्रभाव पड़ा था। प्लेटो के मानस में होमर और ऑर्फ़ियस तथा मस्तिष्क व आत्मा का संघर्ष चल रहा था।

अपने 'निकोमाशियाई नीतिशास्त्र' में अरस्तू ने कहा है कि मानव का प्रमुख उद्देश्य 'नश्वरता को यथासंभव दूर रखना' है।[2] उनकी दलील है: "श्रेष्ठतर है तो श्रेष्ठतम भी अवश्य होगा।" मानव की उच्चतम प्रकृति ईश्वर की प्रकृति के समान है।" इस (प्रकृति) को विकसित करो और अमरता की प्राप्ति करो।"

समस्त ज्ञान इन्द्रियजन्य है। कुछ जीवों में स्मरण-शक्ति—आत्मा में स्थायी रूप से स्थान बना लेनेवाली इन्द्रियगत प्रभावशीलता—होती है; दूसरों में स्मृति में बैठे प्रभावों को संवारने की क्षमता, 'लोगोस', होती है। विचारों के दो माध्यम हैं। प्रथम, 'एपिस्टीम' अर्थात् तथ्यों को तर्क-कसौटी पर कसने के बाद प्राप्त ज्ञान तथा द्वितीय, 'नाउज' अर्थात् मस्तिष्क की उच्चतम श्रेणी, एक प्रकार की सहज अन्तर्दृष्टि। अपने ग्रन्थ 'ऑन द सोल' के तीसरे खंड में अरस्तू ने लिखा है कि अधिकांश ज्ञान हमें शारीरिक इन्द्रियों तथा इन्द्रियजन्य अनुभूतियों को विवेक द्वारा तोलने के बाद प्राप्त परिणामों से मिलता है। साथ ही यह भी कहा है कि एक दूसरे प्रकार का ज्ञान भी होता है। अरस्तू ने स्वयं तो इस ज्ञान के स्रोत के बारे में कुछ नहीं कहा, किन्तु उनके भाष्यकार अफ्रोडीजाज ने इसे 'ईश्वर' बताया है।

यूनान में दार्शनिक विचार की दो धाराएं हैं जिनके उद्गम पृथक् तथा प्रवृत्तियां भिन्न हैं। एक के प्रणेता थे थेल्स, और इसका केन्द्र था आयनियाई मिलेटस; तथा दूसरी की स्थापना पाइथागोरस ने दक्षिणी इटली और सिसिली नामक पश्चिमी राज्यों में की थी, जहां पर ऑर्फ़ियाई धर्म का भी प्राधान्य था। पहली विचार-धारा तर्कयुक्त तथा नास्तिक थी, जिसने प्रकृतिवाद को जन्म दिया, बाद में इसी प्रकृतिवाद का विकास डेमोक्राइटस के परमाणुवाद तथा एपीक्यूरस के आनन्दवाद में हुआ। दूसरी विचारधारा का प्रसार पाइथागोरस, एम्पीडोक्लीज़, सुकरात, प्लेटो[3] और अरस्तू, जितेन्द्रियों (ज़ेनो के शिष्यों) और नव-प्लेटोवादियों ने किया था। इसने ईसाई धर्म को बहुत हद तक प्रभावित किया।

---

१. बर्ट्रेण्ड रसेल: 'हिस्टरी ऑफ वेस्टर्न फ़िलासफ़ी' (१९४६) अलेन ऐंड अनविन, पृष्ठ १११।

२. X. ११, ७७–बी, ३३।

३. "प्लेटो के मुख्य सिद्धान्त तथा स्वर्ग-नरक-सम्बन्धी कथाओं के अधिकांश वर्णनों का आधार ऑर्फ़ियाई स्रोतों पर आधृत पिंडार के विवरण हैं।" जे० ए० स्टीवर्ट: 'द मिथ्स ऑफ प्लेटो' (१९०५), पृष्ठ ६५-६६। बर्ट्रेण्ड रसेल ने प्लेटोवादी सुकरात को 'निर्दोष ऑर्फ़ियाई सन्त' कहा है। 'हिस्टरी आफ़ वेस्टर्न फ़िलासफ़ी' १९४६, पृष्ठ १११।

अपने निरन्तर वैमनस्य के कारण एथेन्स, स्पार्टा और थीबीज़ अपनी-अपनी स्वाधीनता की रक्षा न कर सके। डेमास्थनीज़ (लगभग ४२६ ईसापूर्व) ने, मकदूनियाई प्रभुता से यूनान को बचाने के लिए, फारस के साथ सन्धि करने का प्रस्ताव रखा। आइसोक्रीटीज़ (४७०-३६६ ईसापूर्व), जिन्होंने कहा था कि यूनानवासी की विशेषता उसकी संस्कृति में है, रक्त में नहीं, यूनान को फारस की अधीनता से बचाने के लिए मकदूनिया के फ़िलिप का शासन स्वीकार करने को तैयार थे।

३. सिकन्दर की विजय

सिकन्दर ने बहुत दूर-दूर के क्षेत्रों को विजित किया था। वह रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का व्यक्ति था। मिस्र में वह सिवाह स्थित अम्मन के मन्दिर में गया और मन्दिर के आन्तरिक कक्ष में अकेले पुजारी के साथ भीतर गया। आज तक ज्ञात नहीं है कि वहां क्या हुआ, किन्तु इतना स्पष्ट है कि उसे अनुभव हुआ कि परमात्मा के साथ उसका कोई विशेष सम्बन्ध है और संसार-भर में एकता स्थापित करना उसका ईश्वर-प्रदत्त कर्तव्य है। अपनी मकदूनियाई पृष्ठभूमि की सहायता से उसने यूनान की स्वयं को सर्वोत्कृष्ट समझने की नीति के विरोध में कार्य किए। अपने गुरु अरस्तू के साथ-साथ उसका भी विश्वास था कि एशियाई लोग सिर्फ दास बनने योग्य हैं, लेकिन एशिया, ईरान और पश्चिमोत्तर भारत के निवासियों से सम्पर्क के बाद उसे यह विचार त्याग देना पड़ा। तब उसने विभिन्न देशवासियों में परस्पर मैत्रीभाव स्थापित करने के अनेक उपाय किये। उसका कहना था कि उसके साम्राज्य के सभी लोग साझीदार हैं, प्रजा नहीं। उसने ईरानी सूबेदार नियुक्त किए, एक मिली-जुली सेना का निर्माण किया तथा बड़े पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय विवाहों को प्रोत्साहित किया। उसने घोषित किया कि सभी व्यक्ति एक परमात्मा के बेटे हैं, इसलिए सभी को मानवीय बन्धुत्व-स्थापना के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।[1] सिकन्दर को आशा थी कि पूर्व और पश्चिम का सामंजस्य एक विश्व-धर्म में होगा, जिसमें सभी धर्मों की सर्वोत्तम बातें निहित

१. प्लूटार्क ने सिकन्दर के बारे में लिखा है : "अरस्तू ने उसे सलाह दी थी कि वह यूनानियों का नेता किन्तु बर्बरों का स्वामी बने, यूनानियों को अपना मित्र और सम्बन्धी समझे किन्तु दूसरों को पशु या पौधा।...लेकिन सिकन्दर ने इसके विपरीत आचरण किया, क्योंकि उसका विश्वास था कि सभी लोगों में मैत्रीभाव और संसार में एकता स्थापित करना उसका ईश्वर-प्रदत्त कर्तव्य है। इसके लिए, समझाने से काम नहीं बना तो उसने ज़ोर डाला, हर स्थान के निवासियों को एक किया, और जीवन, रीति-रिवाजों, विवाह, सामाजिक आचार-विचारों को मानो एक जीवित प्याले में घुलने-मिलने दिया।" 'मोरालिया' ३२६ ए० सी० ३३० ई।

होंगी।

पूर्व और पश्चिम को अलग करनेवाली दीवार को सिकन्दर ने तोड़ दिया, तो दोनों में आपसी व्यवहार स्थापित हो गया। वह ऐसे साम्राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहा जिसमें पूर्वीय और यूनानी सभ्यताओं का योग हो। अपनी मृत्यु से कुछ पूर्व, महायुद्ध की समाप्ति के अवसर पर उसने ९००० व्यक्तियों को एक भोज में आमंत्रित किया, जिसमें केवल यूनानी ही नहीं वरन् उसके साम्राज्य की सभी जातियों के लोग शामिल थे। भोज के पश्चात् सभी उपस्थित लोगों ने एकसाथ देवताओं को जल चढ़ाया (जो एक धार्मिक कृत्य था) और शान्ति के लिए, वहां उपस्थित लोगों के देशों के आपसी सहयोग के लिए तथा सम्पूर्ण संसार के लोगों के सहचिन्तन, सहयोग तथा सद्भावना के लिए सिकन्दर का प्रार्थना के साथ-साथ समारोह का अन्त हुआ। सभी मनुष्य भाई-भाई हैं, इसलिए उन्हें मानसिक एवं हार्दिक एकता ('होमो नोइया') की भावना से सह-अस्तित्व बनाए रहना चाहिए।

सिकन्दर ने ही उस यूनानवादी (हेलेनिस्टिक) संसार का निर्माण किया, जिसने रोम को और रोम के द्वारा आधुनिक संसार को सीख दी। यूनानी संस्कृति को पूर्वी भूमध्यसागरीय देशों में प्रसारित करने के बाद वह उसे सिंधुतट तक ले गया। भारतीय साधकों की साधना से सिकन्दर बहुत अधिक प्रभावित हुआ। उसके यूनानी बैक्ट्रियाई उत्तराधिकारियों ने अगली तीन शताब्दियों तक अफ़गानिस्तान और पंजाब में यूनानी संस्कृति को जीवित रखा। चन्द्रगुप्त (शासन-काल ३२१–२९६ ईसापूर्व) ने सीरियाई राजकुमारी से विवाह किया और सेल्यूकस के साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाये रखा।[१] बिन्दुसार और सेल्यूकस के बीच अत्यन्त मनोरंजक पत्र-व्यवहार होता था। एक बार बिन्दुसार ने थोड़ी यूनानी शराब, कुछ मुनक्के और एक मिथ्यावादी दार्शनिक की मांग की। सेल्यूकस ने उत्तर दिया कि वह शराब तो खुशी से भेज देगा, लेकिन मिथ्यावादी दार्शनिक न भेज पाने के लिए दुखी है, क्योंकि 'यूनान में दार्शनिकों का व्यापार करने की प्रथा नहीं है।' पश्चिम के राजदूत अक्सर मौर्य-साम्राज्य में आया करते थे।

---

१. "मौर्य सम्राटों ने अपने यूनानी पड़ौसियों के साथ निकट सम्पर्क बनाये रक्खा। फिर भी आश्चर्य है कि यूनानी भाषा का भारत पर कितना कम प्रभाव पड़ा। यूनान ने समस्त पश्चिम एशिया तथा मिस्र को भी अत्यधिक प्रभावित किया था, किन्तु पाटलिपुत्र में एक यूनानी रानी की उपस्थिति तथा मौर्यों और सीरिया व मिस्र के भ्रातृ-सम्राटों के बीच घनिष्ठ व मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के बावजूद यूनानी प्रभाव हिन्दुकुश तक पहुंचकर ही रुक गया।" रालिन्सन: 'इण्टरकोर्स बिट-वीन इण्डिया ऐंड द वेस्टर्न वर्ल्ड' (१९२६), पृष्ठ १३८।

सेल्यूकस का दूत मेगास्थनीज़ चन्द्रगुप्त के दरबार में और डीमाकस चन्द्रगुप्त के पुत्र एवं उत्तराधिकारी बिन्दुसार के दरबार में आए थे। टॉलेमी फ़िलाडेल्फ़स ने डायनीसियस को भेजा था। इनमें सर्वप्रमुख मेगास्थनीज़ था; भारतीय समाज और सरकार के बारे में उसके विशद वर्णन प्राप्त हैं।

गुफालेखों से हमें पता चलता है कि अनेक यवनों (यूनानियों) ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। कारला और नासिक की बौद्ध गुफाओं में धर्मार्थी दाताओं की सूची में अनेक यूनानी नाम सम्मिलित हैं। सर फ़्लाइंडर्स पेट्री को टॉलेमी-युग के एक कब्र के पत्थर का पता लगा था, जिसपर बौद्धचक्र और त्रिशूल अंकित थे।[1] स्पष्ट है कि बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने के बाद अशोक (शासनकाल: २६४–२२८ ईसापूर्व) ने सीरिया, मिस्र और मकदूनिया के यूनानी सम्राटों के दरबार में अपने भिक्षु भेजे थे।[2]

भारतीय व्यापारी सीरिया की यात्रा करते थे और सीरियाई व्यापारी भारत की। मिस्र और भारत का सम्बन्ध तो और अधिक घनिष्ठ था। सिकन्दरिया पुस्तकालय के एक अध्यक्ष इराटोस्थेनीज़ ने भारत के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी थी, जो मेगास्थनीज़ के विवरण से भी अधिक प्रामाणिक मानी जाती है।

ग्रीक भाषा बोलनेवाले गैरयूनानी लोगों के युग का यूनानी इतिहास वास्तव में यूनान और पूर्व का सम्मिश्रण है।[3]

सिकन्दरिया युग (३१०–२०० ईसापूर्व) में बौद्धिक सक्रियता का केन्द्र एथेन्स से हटकर सिकन्दरिया हो गया; यूक्लिड, आर्किमीडीज़, इराटोस्थेनीज़, अपोलोनियस की महान उपलब्धियां यहीं की हैं। इस युग में शरीर-रचना-शास्त्र और शरीर-विज्ञान में महान खोजें हुईं। अगले युग का सर्वाधिक विशिष्ट व्यक्ति था संसार का एक महान अन्वेषक हिपार्कोस (१४६–१२७ ईसापूर्व)। उन्होंने अपने यथार्थ-प्रेक्षण से अयन-चलन का पता लगाया और त्रिकोणमिति का आरंभ किया। 'तीसरी शताब्दी का वैभव था उसका विज्ञान; आधुनिक काल से पहले वैसा फिर कभी सम्भव नहीं हुआ।'[4] थियोफ्रेस्टस का पौधों का वर्गीकरण लिनियास तक प्रचलित रहा। गणित में, विशेषतः सिराक्यूज़ के आर्किमीडीज़ (२८७–२१२ ईसापूर्व) द्वारा, अनेक खोजें हुईं। औषध-विज्ञान में चीर-फाड़ तथा जीवितों की शल्य-

१. 'जर्नल आफ़ द रायल एशियाटिक सोसाइटी' (१८९८), पृष्ठ ८७५।

२. 'रॉक एडिक्ट' (त्रयोदश)।

३. सर अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार सभ्यता 'यूनानी-पश्चिमी' के स्थान पर 'यूनानवादी-पूर्वीय' हो गई थी—'द यूरोपियन इन्हेरीटेंस', प्रथम खंड (१९५४)।

४. 'द यूरोपियन इन्हेरीटेंस, प्रथम खण्ड (१९५४), पृष्ठ १९२ में टार्न का उद्धरण।

त्रिया का प्रचलन था। शरीर-विज्ञान, ज्योतिष, और भूगोल में महत्त्वपूर्ण खोजें हुईं।

तत्त्ववादी ज़ेनो पर सिकन्दर के मानवता को एक करने के स्वप्न का बड़ा प्रभाव था। उनके अनुसार ब्रह्मांड देवताओं का एक विशाल नगर है, और आदमी उस परम शक्ति के बल पर राज्य करता है जिसे ज्यूस, नियंता, सार्वभौम नियम, ईश्वर, कुछ भी कहा जा सकता है। तत्त्ववादियों के अनुसार 'लोगोस' ईश्वरीय है। वे इस संसार के अलावा किसी ईश्वर को न मानते थे। स्वास्थ्य या बीमारी, सम्पन्नता या निर्धनता का अधिक महत्त्व न था। आत्मा ही सर्वस्व थी—आत्मा को यह संसार खरीद नहीं सकता। दुनिया हमारे साथ चाहे जैसे पेश आए, हमारे सामने रास्ता खुला है कि हम अपनी आत्मा में निहित होकर शान्ति प्राप्त कर लें। बौद्धों के समान तत्त्ववादियों का भी विश्वास था कि स्वयं को छोड़कर कोई किसीको हानि नहीं पहुंचा सकता। गुण स्वयं अपना पुरस्कार है। यही एकमात्र आनन्द है। तत्त्ववादियों ने ही ईसाईधर्म को प्रकृति के नियम से उद्भूत स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के सिद्धान्तों में आस्था प्रदान की।

तत्त्ववादियों ने रोम को एक सम्राट, मार्कस आरेलियस, प्रदान किया। आरेलियस का कथन था कि सम्राट की हैसियत से उसका देश रोम था, किन्तु मनुष्य की हैसियत से वह सारी दुनिया का था। वह शासनकार्य तो करता था किन्तु उसका हृदय कहीं और था। उसका प्रतीक था एम्पीडोक्लीज़ का वर्तुल जो 'प्रकाश से प्रकाशित था और सभी वस्तुओं तथा अपने भीतर के सत्य को देखने में समर्थ था।' उसके 'मेडीटेशन्स' से पता चलता है कि वह सबके लिए समान अधिकार में विश्वास करता था।

सिकन्दर के आक्रमण के एक सौ साठ वर्ष बाद मिलिन्द (मेनैण्डर, १७५–१५० ईसापूर्व) ने गंगा की घाटी में प्रवेश किया। भारतीय दर्शन में उसकी रुचि थी और बौद्ध विचारकों के साथ उसने शास्त्रार्थ किया। 'मिलिन्दपाण्ह' या 'क्वेश्चन्स ऑफ किंग मेनैण्डर' एक महत्त्वपूर्ण बौद्ध ग्रंथ है।

ग्वालियर में, बेसनगर के समीप, एक पाषाण-स्तम्भ (१५० ईसापूर्व) पर ब्राह्मी लिपि में बेसनगर के दरबार में रहनेवाले एक यूनानी राजदूत की कथा अंकित है :

"प्रजापालक और वैभवशाली सम्राट काशीपुत्र भागभद्र के समृद्धिशाली शासनकाल के चौदहवें वर्ष में, महान सम्राट अन्तियालकीदास के यूनानी राजदूत डियन के सुपुत्र, तक्षशिला-निवासी, हीलियोडोरस ने देवों के देव, वासुदेव का यह गरुड़-स्तम्भ भागवत (भगवान विष्णु के उपासक) द्वारा निर्मित कराया।"

४. ईसाई धर्म का उदय

बोगाज़क्यू की पट्टियों पर हिट्टी और मिट्टनी नामक दो लड़ाकू जातियों के बीच चौदहवीं शताब्दी ईसापूर्व में हुई संधि का वर्णन है, जब इन्द्र, मित्र और वरुण जैसे वैदिक देवताओं का आवाहन उनका वरदान प्राप्त करने के लिए किया गया था। इस विवरण से स्पष्ट है कि ईसापूर्व १०००–२००० वर्षों के दौरान भारत का प्रभाव निकटपूर्व और एशिया माइनर पर था। एक और लेख में, दोनों राज्य-परिवारों के बीच एक विवाह-सम्बन्ध के उपलक्ष्य में आशीर्वाद देने के लिए जुड़वा देवताओं 'आश्विन' का, जिन्हें वेदों में 'सत्य' कहा गया है, आह्वान किया गया था। तेलेलामार्ना पत्रों में भारतीय नामधारी राजाओं की सूची का ज़िक्र है। उतने प्राचीनकाल में भी भारतीय विचार दजला की उत्तरी घाटी में पहुंच गए थे। मिस्र की प्राचीन राजधानी मेम्फिस में प्राप्त भारतीय अवशेषों के आधार पर सर फ्लाइंडर्स पेट्री का विश्वास है कि ५०० ईसापूर्व में प्राचीन मिस्र में भारतीय उपनिवेश स्थापित था।

५३८ ईसापूर्व में साइरस ने बैबीलोन साम्राज्य को पराजित करके बैबीलोन को अपनी राजधानी बनाया। उस समय यहूदियों को भारतवासियों के बारे में अवश्य पता चला होगा। उसके उत्तराधिकारी दारा ने सिन्धु घाटी को विजित किया और उसे अपने साम्राज्य का बीसवां 'क्षत्रप' बनाया। भारतीय और यहूदी अवश्य ही बैबीलोन में परस्पर सम्पर्क में आए होंगे।[1] भारतीय लोग यहूदियों को कानून के पाबन्द अथवा 'कलामी' कहते थे। कुछ यूनानियों का तो विश्वास था कि यहूदी लोग हिन्दुओं की ही सन्तान हैं।[2]

---

१. 'महाशोध जातक' की एक कथा सुलेमान के न्याय की याद दिलाती है। अपने एक पूर्व-जन्म में बुद्ध बनारस के राजा के मन्त्री थे। एक बार दो स्त्रियां एक ही बच्चे को अपना कह रही थीं और बुद्ध को निर्णय करना था कि बच्चा किसका है। दोनों में से एक स्त्री यक्षिणी थी और उसने बच्चे को अपने भोजन के लिए चुरा लिया था। बुद्ध ने आज्ञा दी कि एक स्त्री बच्चे का सिर पकड़े और दूसरी पैर; और तब अपनी-अपनी ओर खींचें और जिसे जो अंग मिल जाए उसीसे सन्तोष करें। यक्षिणी ने इस निर्णय को मान लिया किन्तु सच्ची मां ने बच्चे को ज़ख्मी करने के बजाय अपना भाग भी दूसरी स्त्री को दे देना स्वीकार कर लिया। बुद्ध ने उसीको बच्चा सौंप दिया।

२. जोसेफ़स (जन्म : टाइबेरियस के शासन का अन्तिम और कालीगुला नाम से प्रसिद्ध गेइयस के शासन का प्रथम वर्ष ३७ ईसवी, येरूशलेम में; मृत्यु : शायद ६० वर्ष की अवस्था में ९६ ईसवी के तुरन्त बाद) के अनुसार, क्लियर्कस का कथन है कि 'उसके गुरु अरस्तू ने यहूदी की परिभाषा बताई थी।' क्लियर्कस तब अरस्तू के शब्द उद्धृत करता है : "यह व्यक्ति जन्म से यहूदी था और सेलेसीरिया का निवासी था; ये यहूदी भारतीय दार्शनिकों के वंशज हैं। भारतीय इन्हें 'कलामी' और सीरियाई 'जूडाई' कहते हैं।"

ईसापूर्व अन्तिम दो शताब्दियों में, जूडावाद में कुछ ऐसे मतों ने विकास पाया जो भूत-प्रेत-सम्बन्धी पारसी विश्वास की उपज थे। "पारसी द्वैतवाद में अहरीमान की स्वतंत्रता के समान यहूदी एकेश्वरवाद में किसी प्रेतशक्ति की स्वाधीनता की गुंजाइश न थी। किन्तु इन शताब्दियों में जूडावाद में बहुत परिवर्तन हुआ। शैतान ('सेटन') को दुष्टात्मा के रूप में मान्यता दी गई, जिसका काम ईश्वर की आज्ञा से वर्तमान युग में, संसार में अच्छाइयों का विरोध करना था। इसके अतिरिक्त अंधकार के शक्तिशाली शासक की आज्ञानुसार काम करनेवाली दुष्टात्माओं की सेना को मानवीय व्याधियों और पापों के लिए उत्तरदायी मान लिया गया। 'इंजीलों' में लिखा है कि ईसा सन् के प्रारंभ के समय यहूदियों में यह धारण खूब प्रचलित थी।......फारसियों के सम्पर्क के फलस्वरूप ही यहूदी विचारधारा में यह विचार जुड़ गया था कि संसार में दुष्ट शक्तियां सक्रिय हैं; इस तथ्य के प्रति कोई भी सन्देह इस सत्य से मिट जाता है कि 'तोबित' का दुष्टात्मा 'अस्मोडियस' वास्तव में 'अवेस्ता' का 'ईश्मा दीव' है।"[1]

फिलिस्तीन का 'असीनी' और सिकन्दरिया का 'थेराप्यूटी' संभवतः बौद्ध सम्प्रदाय थे। कम से कम बौद्ध सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित तो अवश्य थे। सीरियाई जातियां, जो ईसा से पहले की पांच शताब्दियों तक पहले फारसी साम्राज्य और फिर यूनानी-रोमक साम्राज्य का अंग थीं, भारतीय प्रभाव-क्षेत्र में आ गई। प्लाइनी का कथन है कि सीरिया, फिलिस्तीन और मिस्र में बौद्ध धर्मानुयायी रहते थे।

असीनी लोगों के कुछ धार्मिक विश्वास और आचार गर-यहूदियों की देन थे। जोसेफ़स के अनुसार असीनी "जन्मतः यहूदी हैं और अन्य मतावलम्बियों की अपेक्षा परस्पर अधिक प्रेम करते हैं। ये असीनी खुशियों को बुराई समझकर दूर रहते हैं,

प्रोफेसर एस. ए. कुक ने लिखा है : "प्राचीन भारत के धार्मिक देवता वरुण का ज्ञान, मूसा युग में, उत्तरी सीरिया में था। 'द ट्रुथ ऑफ द बाइबिल (१९३८), पृष्ठ २४।

१. डॉक्टर एडविन बेवन का लेख 'कैम्ब्रिज ऐन्शेएट हिस्ट्री', नवम खण्ड, (१९३२), पृष्ठ ४१९-२० में। टेरेबिन्थस की पूर्वी यात्राओं के दौरान प्राप्त भारतीय आख्यानों ने 'मानीखवादियों को उनके अनेक विचित्र सिद्धान्त प्रदान किए। आदि-ईसाई कथाओं में भी इसी प्रकार का पूर्वी प्रभाव परिलक्षित होता है। पूर्वीय स्रोतों के प्रति नवप्लेटोवाद का ऋण निःसंदिग्ध है। पूर्वीय विश्वासों के बारे में अत्यन्त विस्तृत ज्ञान उन लोगों में था; यह ज्ञान औरिजेन के साथ-साथ क्लीमेंट और सेंट जेरोम जैसे पुरातन पंथियों के लेखों में स्पष्ट है। इस तथ्य पर गौर करने पर बरबस सोचना पड़ जाता है कि कहीं ईसाई धर्म के अनेक विकासों—उदाहरणतया, वैराग्य तथा अवशेष पूजा—का कारण बौद्ध प्रभाव तो नहीं है। रालिन्सन कृत 'इन्टरकोर्स बिटवीन इंडिया ऐंड द वेस्टर्न वर्ल्ड' (१९२६), पृष्ठ १३८।

किन्तु संयम और वासनाओं के दमन को गुण समझते हैं। ये धन-सम्पत्ति से घृणा करते हैं और इनका साम्यवाद प्रशंसनीय है। उनके समुदाय में कोई भी व्यक्ति दूसरे से अधिक सम्पन्न नहीं है; क्योंकि उनका नियम है कि उनके समुदाय में सम्मिलित होने आने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपना सब कुछ दूसरों के साथ साझे में रखे, यहां तक कि उनके बीच गरीबी अथवा धन-सम्पन्नता के लक्षण नहीं हैं, बल्कि हर आदमी की सम्पत्ति हर दूसरे आदमी की सम्पत्ति के साथ मिश्रित है और मालूम पड़ता है कि वे सब एक ही पिता की सन्तान हैं।...उनका कोई एक निश्चित नगर नहीं है, किन्तु हर नगर में वे अल्पसंख्या में रहते हैं।...उनका निश्चित मत है कि शरीर क्षयकारक है और जिस तत्त्व से उनका निर्माण हुआ है वह स्थायी नहीं है, किन्तु आत्माएं अमर हैं और सदैव जीवित रहती हैं।...इस शरीर के बंधन से मुक्त होती हैं तो मानो उन्हें लम्बे कारावास से छुटकारा मिल जाता है और वे प्रसन्नतापूर्वक ऊपर की ओर उड़ जाती हैं।"[1] बपतिस्मा करने-वाले जॉन एक साधु थे, जो बिलकुल साधारण भोजन करते और ऊंट के बालों से बने कपड़े पहनते थे। वरसों ईश्वराराधना में लीन रहकर वे अपने तथा दूसरों के पापों के शमन के लिए प्रार्थना करते रहे।[2]

जोसेफ़स की कृतियों में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि ईसा के समय में यहूदियों को हिन्दुओं के सिद्धान्तों और पूजा आदि के बारे में बहुत-कुछ पता था। सन् ७० ईसवी में यरूशलम के समूल विनाश से पहले, मसादा में, जहां के मज़बूत किले पर एलियाज़र नामक किसी व्यक्ति के नेतृत्व में यहूदियों का कब्ज़ा था, यहूदियों ने आखिरी बार रोमकों से लोहा लिया। किले के चारों ओर घेरा डाल दिया गया, और एक समय ऐसा आया जब उसकी रक्षा करना असंभव हो गया। एलियाज़र ने अपने सहयोगियों से कहा कि रोमकों के हाथों में पड़ने से कहीं अच्छा है कि वे खुद एक-दूसरे को मार डालें। उसने कहा : "आओ, दुश्मनों के हाथों भ्रष्ट होने से पहले हम अपने बीवी-बच्चों को मार डालें और उसके बाद, ज़ाहिर है, उसी शानदार मौत को हम लोग भी गले गला लें, और इस प्रकार स्वतन्त्रता को ही अपनी उत्कृष्ट यादगार के रूप में छोड़ जाएं।" इस भयानक परीक्षा से घबरानेवालों के समक्ष उसने जो तर्क उपस्थित किए थे, उनसे उपनिषदों, बौद्धधर्म और भगवद्गीता की शिक्षाओं की याद आ जाती है। शाश्वत आत्मा और नश्वर शरीर के बीच का यह स्पष्ट अन्तर 'ओल्ड टेस्टामेंट' में नहीं मिलता। 'ओल्ड

---

१. 'जोसेफ़स', सम्पादक : एस. ई. विन्बोल्ट १९०७, पृष्ठ १०३–९।

२. 'मैथ्यू तृतीय : जॉन प्रथम', १९–२४।

टेस्टामेंट' के अन्तिम खण्ड की रचना और उपर्युक्त भाषण के बीच के समय में ही यहूदी उपदेशों में यह नया विकास हुआ था। यह प्लेटो का प्रभाव भी हो सकता है। किन्तु एलियाज़र ने स्वयं इसे हिन्दू-उपदेशों से प्रभावित बताया था। जोसेफ़स के, जिसने सन् ७० ईसवी में यहूदियों और रोमकों के युद्ध में प्रमुख भाग लिया था, भाषण का अंश यों प्रस्तुत किया है : "इसपर भी यदि हमें अपने रास्ते पर चलने के लिए विदेशियों की सहायता की आवश्यकता पड़े ही, तो हमें दार्शनिक आदर्शों के अनुयायी भारतीयों से शिक्षा लेना चाहिए। वे लोग इस जीवन-काल को अनिच्छापूर्वक व्यतीत करते हैं, इसे आवश्यक दासता समझते हैं और अपनी आत्माओं को शरीर से मुक्त करने को उत्सुक रहते हैं। यही नहीं, जब शरीर से मुक्ति के पीछे कोई दुर्भाग्यपूर्ण कारण या बाध्यता नहीं होती, तब भी उनमें शाश्वत जीवन के प्रति ऐसी उत्कट कामना होती है कि वे अन्य लोगों को अपनी विदा की पूर्वसूचना दे देते हैं, और कोई उन्हें रोकता नहीं बल्कि सभी उन्हें बड़ा सौभाग्यशाली समझते हैं।...भारतीयों से अधिक छिछले विचार रखने के कारण क्या हमें शर्म नहीं आनी चाहिए ?" ईसा की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद एलियाज़र इस प्रकार यहूदियों से बात करता था मानो वे हिन्दू शिक्षाओं और आदर्शों से सुपरिचित हों।

यूनानवादी संसार में विदेशी धार्मिक प्रभाव सीरिया, बैबिलोनिया, अनातूलिया और मिस्र से होकर पहुंचे। बैबिलोन का योगदान था नक्षत्रपूजा और ज्योतिष। किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे रहस्यात्मक धर्म, जिन्होंने भाग्यचक्र से बाहर निकलने का रास्ता दिखाया। किसी ऐसे ईश्वर से, जो स्वयं मृत्यु का शिकार और बाद में पुनरुज्जीवित हुआ हो, व्यक्तिगत संयोग की स्थापना होने पर ही मुक्ति सम्भव है। एल्यूसिनियाई धर्म में साधक की मुक्ति का साधन उसकी मृत्यु और अन्तरात्मा के पुनर्जीवन को बताया गया है। मिस्री 'आइसिस'-सम्बन्धी धर्म दूर-दूर तक फैला था। उसके अनेक नाम हैं। वह सर्वशक्तिमती एवं सर्वगुणवती है, स्त्रियों की विशेष देवी और मित्र है। उसके स्थान पर मैडोना के प्रतिष्ठित होने के समय तक उसका शासन कायम रहा।

सिकन्दरिया के यहूदियों ने यूनानी विचारों को स्वीकार कर लिया। ईसा के जन्म से सौ वर्ष पहले, सिकन्दरिया के यहूदियों ने प्लेटो के विचारों से प्रभावित होकर एक दार्शनिक ग्रंथ की रचना की। इसे सुलेमान की ईश्वरप्रदत्त बुद्धि का वास्तविक प्रसाद माना गया।[1] यूनानियों के प्रभाव से एक समस्या उठ खड़ी हुई—

१. इस ग्रंथ को 'ट्रेण्ट की काउंसिल' की स्वीकृति प्राप्त हो गई थी। ईसा से पहले की शताब्दियों में इज़राइल और मिस्र में घनिष्ठ सम्पर्क था। 'बौद्धिक साहित्य' (विज़डम लिटरेचर) का

यहूदी पैगम्बरों के मतानुसार निर्धारित एक ईश्वर तथा ब्रह्माण्ड की तर्कसंगत व्यवस्था में व्यक्त परमात्मा में परस्पर क्या सम्बन्ध है। सम्पूर्ण सृष्टि में निहित 'ईश्वरीय विवेक' का सिद्धान्त अपनाकर ईश्वर-सम्बन्धी यहूदी और यूनानी मान्यताओं में समन्वय स्थापित किया गया; यह 'ईश्वरीय विवेक' ईश्वर से कुछ-कुछ पार्थक्य रखते हुए भी पृथक् नहीं है। इस अर्थ में 'विवेक' तत्त्वज्ञानियों के 'लोगोस', सृष्टि में निहित तर्कसंगत सिद्धान्त, से भिन्न नहीं है। यूनानवादी जूडावाद ने 'विवेक' और 'लोगोस' की समानता तो स्वीकार कर ली, लेकिन यह भी कहा कि इसका उद्गम सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा है। ईश्वर ने दुनिया बनाई और मानवों को ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान कराया; 'लोगोस' उसीकी वाणी थी। सिकन्दरिया के फ़िलो ने यहूदी एकेश्वरवाद के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों को यूनानी पाठकों के लिए इसी प्रकार तर्क-सहित प्रस्तुत किया था। फिलो के ग्रंथ (पहली शताब्दी ईसापूर्व) इस अर्थ में अपूर्व हैं कि उनमें मूसावादी विश्वास और यूनानी दर्शन का सामंजस्य है। उनमें से अधिकांश की रचना आगस्टस के शासनकाल में, ईसा की मृत्यु से और शायद उनके जन्म से भी पूर्व हुई थी। फ़िलो ने ईश्वर की अलौकिकता पर विशेष ज़ोर दिया है और उसे सारे सम्बन्धों से परे बताया है। हमें उसके अस्तित्व का ज्ञान तो है किन्तु उसकी प्रकृति का ज्ञान नहीं है। उसे विचार की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। उसके लिए जो विशेषण हम प्रयोग करते हैं उनसे सापेक्ष और सीमित दोनों प्रकार के भौतिक संसार से उसकी दूरी का ही पता चलता है। यदि ईश्वर ही संसार नहीं है, तो फिर दोनों का सम्बन्ध केवल उन्हीं शक्तियों से व्यक्त किया जा सकता है जो उसकी हैं, फिर भी 'उसके' पास नहीं हैं। प्लेटो के अनुसार, यही 'परम ज्ञान' ('आइडियाज़') है, जिसे बाद की विचार-

---

आधार मिस्री नमूने थे। " 'प्रोवर्ब्स' XXII. १७–XXIII-११' के प्रत्येक पद का समानार्थी पद एक मिस्री धार्मिक ग्रन्थ (द टीचिंग आफ़ अमीनोप) में मिल जाता है; इस ग्रन्थ का पता हमें लगभग पन्द्रह वर्ष पहले लगा था। 'प्रोवर्ब्स' XXII. १७ के प्रथम शब्द हैं, 'अपने कान खोलकर मेरी बात सुनो और दिल खोलकर उन्हें याद कर लो।' इसके लिए अमीनोप में लिखा है, 'कान लगाकर मेरी बातों को ध्यान से सुनो, दिल लगाकर उन्हें समझो।'···दोनों की विषय-वस्तु हैं कुछ सलाहें : गरीबों को मत सताओ, क्रोधी व्यक्तियों से मित्रता न करो, प्राचीन चिह्न मत मिटाओ, धन-सम्पत्ति के पीछे मत भागो। इससे किसी भी पाठक को पता चल जाता है कि दोनों की तुलना सार्थक है। इससे भी अधिक विशेष बात यह है कि दोनों ग्रंथों में लिखा है कि किसी शक्तिशाली व्यक्ति के सामने कैसा व्यवहार करना चाहिए, और दोनों में लिखा है कि धन-सम्पत्ति किस प्रकार पक्षियों की भांति उड़ जाती है।" 'द लेगैसी आफ़ इजिप्ट' (१९४७), पृष्ठ ६७–६९, में एलन एच. गार्डिनर।

धाराओं ने ईसा के व्यक्तित्व के साथ जोड़ दिया। यहूदियों के लिए, यही ईश्वर के गुणों के मूर्तिमान स्वरूप हैं। फ़िलो के अनुसार, अलौकिक ईश्वर और सीमित संसार को जोड़नेवाला सिद्धान्त 'लोगोस', ईश्वर से उत्पन्न प्रथम पुत्र, यहां तक कि 'द्वितीय ईश्वर', स्वर्गिक मानव है। वेदों में व्यक्त 'वाक्' (शब्द ही ईश्वरीय शक्ति है) के तुल्य यह 'लोगोस' सिद्धान्त चौथी इंजील में सम्मिलित है।

रोमवासी यूनानियों के प्रथम शिष्य थे। विजेता होने के बावजूद उन्होंने यूनानियों से बहुत कुछ सीखा। यूनानियों ने सदियों तक दास-प्रथा को कायम रखा, फिर भी उनमें मानव-प्रतिष्ठा की जन्मजात भावना थी, जो यूनानियों और बर्बरों के अन्तर को पाटने में सक्रिय थी। वे मानव में, उसकी क्षमता में विश्वास करते थे। यूनानियों का यह विचार रोमकों द्वारा तथ्य में परिणत कर दिया गया। रोमन कानून हमारे लिए शानदार विरासत है। यूनानी-रोमक सभ्यता में दोनों धाराओं का संगम हुआ। वर्जिल कृत 'एनीद' रोमक भाषा में प्रच्छन्न यूनानी कल्पना थी। यूनानियों की आकार के प्रति सजगता ने रोमकों की उद्देश्य एवं दायित्व की भावना को बदल डाला। रोमक मस्तिष्क सुव्यवस्था और परम्परा पर ज़ोर देता था; यह हमें बांधनेवाली ज़ंजीरें नहीं वरन् विरासत है जिसे हमने सम्हालकर रखा है। रोम का विश्वास कानून द्वारा नियंत्रित एक राजनीतिक बिरादरी पर था, जिसमें हर आज़ाद नागरिक को कानून बनाने में भाग लेने का अधिकार था, और कानून की निगाह में सभी नागरिक समान थे। रोमक नैतिकता यह थी कि सामाजिक कार्यों पर सजग नियंत्रण रखा जाय और समाज की आवश्यकताओं के सामने व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी आवश्यकताओं को नज़र-अन्दाज़ कर दे। सामाजिक रहन-सहन की दृष्टि से यूनानी-रोमक सभ्यता अत्यन्त सफल थी। इसने व्यक्तिगत और आध्यात्मिक स्वतंत्रताओं की रक्षा की तथा कार्य-क्षमता और आज्ञाकारिता को बढ़ावा दिया। रोमक साम्राज्य यूरोप, उत्तरी-अफ्रीका, मिस्र और निकटपूर्व में फैला था। रोमक संसार वस्तुतः यूरोपीय संसार नहीं वरन् भूमध्यसागरीय संसार था जिसमें एशिया माइनर और उत्तरी अफ्रीका भी सम्मिलित थे।

यूनान ने स्वतंत्र विचार-क्षमता को प्रोत्साहित किया, और रोम ने काम करने का संकल्प पैदा किया। इसके अतिरिक्त फ़िलिस्तीन ने संवेगों को काम में लगानेवाला ईसाई धर्म यूरोप को प्रदान किया। रोम ने पहली शताब्दी ईसापूर्व में सीरिया और फ़िलिस्तीन को जीत लिया। मिस्र के सिकन्दरिया और सीरिया के अन्तोइख नगरों में यहूदी जनसंख्या काफी थी। भारत की अनेक बौधकथाएं, श्रुतिकथाएं, पौराणिक कथाएं तथा विचारधाराएं सीरिया, मिस्र और फ़िलिस्तीन

पहुंच चुकी थीं। यूनान के समीपवर्ती एशियाई प्रदेशों में बौद्धधर्म का प्रचार था। ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के लगभग मध्य में, दो भारतीय सरदार अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह में असफल होकर और भागकर, उत्तरी दजला के तारों नामक स्थान में पहुंचे; वहां उन्होंने एक नगर बसाया तथा कृष्ण-मंदिर का निर्माण किया। नगर और मंदिर चार सौ वर्ष से अधिक समय तक फूलते-फलते रहे, और आखिरकार सेंट ग्रेगरी ने सन् ३०४ ईसवी में मन्दिर को ध्वस्त कर डाला।

जहां कहीं भी रोमक साम्राज्य का बोलबाला रहा, उसके कानूनों और संगठनों तथा पदाधिकारियों के संगठन और सम्मान को समुचित मान्यता प्राप्त हुई। रोम संगठित शक्ति का प्रतीक बन गया। उसकी संगठित शक्ति में कानून और आज्ञाकारिता, धर्म तथा सहिष्णुता और स्वस्थ प्रशासन की भावनाओं का समन्वय था। यूनान के दर्शन और ईसा के धर्म दोनों का सम्मिश्रण रोमक साम्राज्य में हुआ। सोचा जाने लगा कि धर्म सम्पूर्ण भूमध्यसागरीय संसार को एकता के एक नवीन सूत्र में बांध सकता है तथा एक साम्राज्य की सह-नागरिकता के बंधन को समान धर्मावलम्बिता की संयोग-शक्ति से और अधिक मज़बूत बना सकता है।

ऑगस्टस की मृत्यु सन् १४ ईस्वी में हुई और टाइबेरियस को उत्तराधिकार मिला। ईसाई ग्रंथों में वर्णित घटनाएं टाइबेरियस के शासनकाल में घटित हुईं। हिब्रू समाज एक प्रकार का धार्मिक संगठन था; वे एक ईश्वर की पूजा करते थे, जिसे वे सम्राट, विधायक, न्यायाधीश और युद्ध में अपना नायक मानते थे; इसी पूजा ने उन्हें परस्पर एकता के सूत्र में बांध रखा था। हिब्रू परिवार में जनमे और मिस्री ढंग से पोषित मूसा को प्रभु याहवेह महान का पैगम्बर माना जाता था। बाद के पैगम्बरों—अमोज़,होसिया,यशायाह,जेरेमिया और इज़ेकियल—ने इज़रायली धर्म को नैतिक एकेश्वरवाद में परिवर्तित कर दिया। ईश्वर अनिवार्यतः कृपालु है और चाहता है कि उसके उपासक भी सहृदय बनें। याहवेह न्याय परायणता का देवता है और न्याय, कृपा तथा सत्य की रक्षा उसका प्रमुख उद्देश्य है। यह संसार नियमों से बंधा है और इसमें नैतिक मूल्यों का महत्त्व सर्वोपरि है।

सिकन्दर महान की विजयों के फलस्वरूप समस्त निकट और मध्यपूर्व के साथ-साथ जूडिया भी हेलेनवाद के क्षेत्र में जा पहुंचा। यहूदियों ने ग्रीक भाषा बोलना सीख लिया और अपने धर्म को ठेस न पहुंचने देने की सीमा तक अपने पड़ौसियों के आचार-व्यवहार को अपना लिया। हिब्रू धर्मग्रन्थों के ग्रीक भाषा में अनुवाद हुए। इस प्रकार हिब्रू एकेश्वरवाद उस समय के अर्धदार्शनिक और अर्धरहस्यात्मक विचारों के और समीप पहुंचा। मूलतः पूर्वीय धर्म होते हुए भी उसने बौद्धिक प्रणाली और शैली को अपना लिया, जिनके कारण वह यूरोपीय विरासत

में प्रविष्ट हो सका। यूनानी विचारधारा के शान्तिपूर्ण प्रवेश से उसकी अलग कबीलेवाली प्रवृत्ति सुधर गयी और विस्तृत मानवता के लिए उपयोगी हो गयी।

'द ऐक्ट्स ऑफ़ अपोसिल्स' एक उदाहरण है जिससे हमें पता चलता है कि उपदेशक और दार्शनिक, प्रचारक और प्रजानायक किस प्रकार साम्राज्य के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा किया करते थे। सेंट पॉल अपने खर्चे पर दो साल रोम में रहकर पूर्ण विश्वास से उपदेश और शिक्षाएं देते रहे और 'किसी व्यक्ति ने उन्हें रोका नहीं'।[1] रोम में विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को प्रोत्साहन दिया जाता था।

पश्चिमी एशिया पर, जहाँ ईसाई धर्म का विकास हुआ, फारस और भारत का प्रभाव स्पष्ट है।[2] बौद्ध विचार यूनानी नगरों से होते हुए सम्पूर्ण भूमध्यसागरीय प्रदेश में फैल गए थे; ये यूनानी नगर व्यापारियों तथा अन्य प्रतिनिधिमंडलों के रास्ते पर पड़ते थे। सिकन्दरिया में तो पूर्व के विचारों का स्वागत सीरिया से भी अधिक था। ईसवी सन् के प्रारम्भ से पहले की शताब्दी में यूनानी बैबिलोनियाई, बौद्ध और पारसी जैसी विभिन्न परम्पराओं के विचारों का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ। इसी बीच लम्बे समय तक रोम और भारत के बीच अम्बर, हाथीदांत, गूगुल, कालीमिर्च और रेशम—अर्थात् सीमाओं के भीतर न मिलने वाली चीज़ों—का व्यापार होता रहा।

रोम ने जब निकटपूर्व को राजनीतिक रूप से परास्त कर दिया, तो पूर्व की आत्मा ने रोम में सीधे प्रवेश किया। इज़राइल के पैगम्बरों और भारत के दार्शनिकों ने जिन लोगों के दृष्टिकोण को व्यापक बना दिया था, उनके लिए यूनानी रोमक पंथ भावनात्मक रूप से अपर्याप्त थे। श्रान्त और उत्तेजित लोग मुक्तिदायक धर्मों के लिए पूर्व की ओर देखने लगे। एशिया माइनर से साइबेले की पूजा आई, जिसमें गीतों और नृत्यों की व्यवस्था के साथ-साथ एक ऐसे देवता की कल्पना थी जो पुनर्जीवन के लिए मृत्यु का वरण करता है। सीरिया से 'डिग्राल साइरा' पंथ और फारस से मिथ्राज़ की पूजा (अपने दीक्षा, संस्कार, रहस्य और अनुशासन के साथ-साथ) आये। बाद के पारसी धर्म में मिथ्राज़ को मुक्तिदाता परमेश्वर मान लिया गया। "अहुरा मज़दा ने पवित्रात्मा ज़रथूस्त्र से इस प्रकार

---

१. ऐक्ट्स ऑफ़ द अपोसिल्स XXVIII, ३१।

२. तुलना कीजिए। एच. एम. ग्वाटकिन: 'स्टडीज़ इन एशियनिज़्म' (१८८२)। "यहां तक कि सुदृढ़ इज़राइली एकेश्वरवाद को भी पूर्वीय प्रभावों ने तराश डाला। ये पूर्वीय प्रभाव दार्शनिक फिलो, कट्टर तालमूदियों और असीनियों की चिन्तन-प्रधान आत्मयंत्रणा में स्पष्ट हैं।" पृष्ठ १२।

बातें कीं। ऐ स्पितामा, जब मैंने विस्तृत चरागाहों के देवता मिथ्रा की रचना की तब मैंने उसे अपने—अहुरा मज़्दा के—समान बलि और प्रार्थना के योग्य बना दिया।"[1] मिथ्राज़ निरीह प्राणियों तथा पापियों का मुक्तिदाता है।[2] कुनाजेने के अन्तियोकस प्रथम (६९–३८ ईसापूर्व) की समाधि से पता चलता है कि ज्यों-ज्यों मिथ्रा सम्प्रदाय पश्चिम में फैलता गया, मिथ्रा को अपोलो, हीलियोस, और हेज़ो-नीस का ही प्रतिरूप समझा जाने लगा।[3] इस सम्प्रदाय को सबसे अधिक सफलता रोमक साम्राज्य में मिली। डायोक्लीशियन गैलेरियस और लिसिनियस ने ३०७ ईसवी में कारमन्तुम में मिथ्राज़ के नाम पर एक मन्दिर का निर्माण कराया। कॉन्स्टेण्टाइन की विजय के पश्चात् सम्प्रदाय में शिथिलता आने लगी और अन्ततः थियोडोसियस (३७९–९५) की आज्ञा से इसपर प्रतिबंध लगा दिया गया। मिस्र से ओसिरिस और आइसिस की पूजा का पंथ पहुंचा; इसमें सम्पूर्ण मानवता के कष्ट-निवारण के लिए आकुल एक पीड़ित किन्तु दयामयी 'माता भगवती' की कल्पना थी। इन देवी-देवताओं के समक्ष ओलम्पस के मान्यताप्राप्त देवगणों का महत्त्व कम हो गया। ये समस्त सम्प्रदाय और धर्म यूनान व रोम की प्राचीन आधि-कारिक पूजाओं के लिए तो अवश्य विदेशी थे किन्तु रहस्यात्मक धर्मों के लिए, जो लम्बे अरसे तक यूनानियों के वास्तविक धर्म रहे थे, एकदम अपरिचित नहीं थे। कॉन्स्टेण्टाइन द्वारा ईसाई धर्म को मान्यता दिए जाने के बाद भी जूलियन को एल्यूसिस के रहस्यमय धर्म और मिथ्राज़ की पूजा की दीक्षा दी गई। यदि ईसाई धर्म विजयी न हुआ होता, तो मिथ्राज़ या सेरापिस अथवा 'माता भगवती' की विजय हुई होती, ओलम्पियाई देवताओं की नहीं।

मिथ्रा सम्प्रदाय और ईसाई धर्म में अद्भुत समानताएं थीं। उनके अनुयायी परस्पर 'बन्धु' थे। उनकी आस्था बपतिस्मा और तपस्यामूलक आचारों में थी। दोनों में ही देवता इहलोक और परलोक का मध्यस्थ था। दोनों की शिक्षा थी कि मुक्तिदाता परमेश्वर पुनः पदार्पण करेगा, मृतकों को जिलायेगा, पुण्य और पाप का निर्णय करेगा, तथा पुण्यात्माओं को अमरत्व व पापात्माओं को विनाश प्रदान करेगा। जस्टिन का कथन था कि सम्पूर्ण मिथ्रावाद सम्प्रदाय शैतान की चालबाज़ी है। और उसका उद्देश्य ईसाइयों को गुमराह करना है।[4]

---

१. 'मिह्रि याष्ट', X.१।

२. वही, X. ८४; X. ९३।

३. 'मिथ्राइज़्म ऐंड इट्स चैलेंज टु क्रिश्चियानिटी' नामक प्रोफेसर एस. जी. एफ़. ब्रैंडन का निबंध देखिए। हिबर्ट जर्नल, जनवरी १९५५।

४. 'एपॉलोजिया' १.६६।

ईसाई धर्म ने रहस्यात्मकता को प्रोत्साहित और आशा का सिद्धांत प्रचारित किया, तथा उसकी पूजाविधि आदर्श थी; इसीलिए उसका प्रचार-प्रसार हुआ, उसकी शिक्षा थी कि ईश्वर की दृष्टि में दास और सम्राट समान हैं; इसीलिए निम्नश्रेणी के लोग उसकी ओर आकर्षित हुए। उसने भ्रातृत्व-प्रेम और साहचर्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। शीघ्र ही यूनानी दर्शन को अपना लेने से उसमें एक बौद्धिक तत्त्व उत्पन्न हो गया जिसने विचारकों को आकर्षित किया। उसके चमत्कारक तत्त्व अन्धविश्वासी लोगों के लिए पहले ही आकर्षणकेन्द्र थे।

ईसा-सम्बन्धी अनेक कहानियों और उनके द्वारा प्रयुक्त दृष्टांतों के समानान्तर कहानियां या दृष्टांत भारत में थे। ६३ ईसापूर्व में रोम ने जूडिया पर अधिकार किया। ३७ ईसापूर्व से लेकर ४० साल तक, जूडिया पर हेरोद का शासन था। ईसा के जन्म से संबंधित 'इंजीलों' में हेरोद का जिक्र है। एक तारे द्वारा निर्देशित ईसा के जन्म के समय उपहार लेकर पहुंचनेवाले पूर्व के तीन बुद्धिमान व्यक्तियों ने हेरोद को बताया था कि एक सम्राट का जन्म हो गया है। इसपर हेरोद ने बेथेलहेम के सभी नवजात शिशुओं की हत्या की आज्ञा दे दी। जोसेफ़स ने इस प्रसंग का वर्णन नहीं किया। कुछ भी हो, यह कथा हमें कंस की याद दिलाती है। उसे बताया गया था कि उसका भांजा ही उसका वध करके राज्य का उत्तराधिकारी बनेगा। इसी कारण उसने अपनी बहन के सारे बच्चे पैदा होते ही मरवा दिये थे, केवल कृष्ण की हत्या वह नहीं कर सका। 'मैथ्यू' के दूसरे अध्याय में वर्णित संपूर्ण कथा का कृष्णजन्म की कथा से अद्भुत साम्य है। कृष्ण की भांति ईसा की भी ईश्वर-पुत्र के रूप में पूजा होने लगी।

ईसा का किसानवाला दृष्टांत स्पष्टतः बौद्ध धर्म से लिया गया है। बुद्ध से पूछा गया कि वे अपेक्षाकृत कुछ लोगों को अधिक उत्साह से क्यों उपदेश देते हैं। इसपर उन्होंने उत्तर दिया कि मान लाजिये, किसी किसान के पास तीन खेत हैं—एक अच्छा, दूसरा मामूली, तीसरा घटिया। वह पहले अच्छे खेत को, फिर मामूली को और सबसे अन्त में घटिया खेत को बोएगा, यह सोचकर कि चलो, उसमें जानवरों का चारा ही उग आयेगा। इसीलिए बुद्ध पहले अपने भिक्षुओं को और फिर साधारण अनुयायियों को उपदेश देते थे। अन्त में, दूसरे मतावलम्बियों को यह सोचकर उपदेश देते थे कि वे एक ही शब्द समझ गये तो बहुत समय तक उन्हें लाभ होगा।

ईसा को जो प्रलोभन दिए गए थे, उनसे हमें सातवीं शताब्दी ईसापूर्व के 'कठोपनिषद्' में वर्णित यम द्वारा नचिकेता को दिए गए प्रलोभनों अथवा मार द्वारा गौतम को दिए गए प्रलोभनों की याद आती है। ज़रथूस्त्र को प्रलोभित करते

हुए अहरीमान कहता है: "तुम अहुरा मज़दा से मुख मोड़ लो तो हज़ार वर्ष तक संसार पर राज्य कर सकते हो।" ज़रथूस्त्र का उत्तर है: "मेरे लिए ऐसा करना असंभव है, फिर चाहे मेरा शरीर, मेरा जीवन, मेरी आत्मा ही क्यों न नष्ट हो जाय।" ईसा के समय के यहूदियों को ये हिन्दू, बौद्ध और फारसी कहानियां अवश्य मालूम रही होंगी। ईसा द्वारा परिवार और गृह का परित्याग विशुद्ध भारतीय परम्परा है। भारतीय संन्यासी घरबार-रहित पर्यटक ही तो होते हैं। ईसा का कथन है: "लोमड़ियों की मांदें होती हैं, पक्षी घोंसलों में रहते हैं, लेकिन इंसान के बेटे के पास सिर छिपाने की कोई जगह नहीं है।" उनका दूसरा कथन है: "ईश्वर की इच्छा का पालन करनेवाले व्यक्ति ही मेरी मां, भाई और बहिन हैं।"

यहूदियों की बाइबिल परम्परा से ही ईसाई और इस्लाम दोनों धर्म उद्भूत हैं। सेमिटिक जातियों के बीच जनमे ये तीन धर्म इस अर्थ में ऐतिहासिक माने जाते हैं कि किसी न किसी समय में, किसी न किसी स्थान पर हुई देववाणियां ही इनकी आधारशिलाएं हैं। ये तीनों इतिहास की घटनाओं से संबधित हैं—विशेष प्रकार की घटनाओं से, जिनसे इतिहास के प्रति ईश्वर के रुख और रुचि का पता चलता है। ईश्वर एक परम शक्ति है, वह पृथ्वी पर इसलिए नहीं रहता कि पृथ्वी उसकी ही सृष्टि है। ईश्वर मनुष्य को अपनी वाणी द्वारा अपना बोध कराता है। आस्था के बल पर हम ईश्वरीय जीवन के भागी बनते और ईश्वर के सहयोगी हो जाते हैं। जूडावाद में ईश्वर ने यहूदियों को अपना प्रियजन कहा है। ईसाई धर्म में ईश्वर के प्रियजन हैं चर्च के सभी आस्थावान लोग। इसी प्रकार इस्लाम धर्म में आस्था रखनेवाले खुदा के बन्दे होते हैं। यहूदी धर्म में ईश्वर ने अपनी वाणी पैगम्बरों द्वारा पहुंचाई थी किन्तु ईसाई धर्म में तो उसकी वाणी ने मानवरूप धारण कर लिया। ईसा का कुंआरी के गर्भ से जन्म, 'क्रास' पर ज़िन्दा कीलों से गाड़ा जाना और पुनर्जीवन ईश्वरेच्छा के अनिवार्य अंग हैं।

ईसा स्वयं को यहूदी अतीत से सर्वथा पृथक् तो नहीं कर सके, फिर भी उसकी शिक्षाओं का रूपान्तर करने की कोशिश उन्होंने की। यहूदी पैगम्बरों की इस धारणा को ईसा ने भी माना कि यहूदी अपने दैवी कर्तव्य से च्युत हो गये हैं और उन्हें सर्वप्रथम प्रायश्चित करके पुनः अपना कर्तव्य पालन प्रारंभ करना चाहिए। रोमक साम्राज्य द्वारा यहूदियों की पराजय वास्तव में राष्ट्रीय अपराध के लिए ईश्वरीय दंड है। ईसा ने कहा कि इसका प्रायश्चित और ईश्वरीय नियम को पुनः राष्ट्रीय जीवन की आधारशिला के रूप में स्वीकार करना चाहिए। राष्ट्रीय प्रायश्चित और ईश्वरीय राज्य की स्थापना के प्रति आस्था के स्वीकरण के रूप में उन्होंने सबसे पहला सार्वजनिक काम यह किया कि बपतिस्मा करनेवाले

जॉन के अनुयायियों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया। यहूदी लोग रोम की पराधीनता से मुक्ति पाना चाहते थे। एक बार तो उन्होंने बलपूर्वक ईसा को यहूदी-सम्राट बना देना चाहा था। रोम की सरकार ने ईसा को यहूदी-सम्राट के रूप में ही सज़ा दी थी। 'द ऐक्ट्स ऑफ़ एपोसिल्स' के प्रारंभ में कहा गया है कि ईसा के पुनर्जीवन के बाद उपस्थित व्यक्तियों ने उनसे प्रश्न किया : "प्रभु, क्या आप इस समय इज़रायल को स्वतन्त्र कर देंगे ?"[1] ईसा का बार-बार यह कहना, कि वे यहूदियों के लिए जनमे हैं, उनके कृत्यों के राष्ट्रीय महत्त्व की पुष्टि करता है। उस कनानी स्त्री की कथा, जिसमें उन्होंने कहा था कि 'बच्चों की रोटी छीनकर कुत्तों को दे देना उचित नहीं', इसका एक उदाहरण है।[2] उन्होंने अपने शिष्यों को जन्तिलों और समारितनों के पास जाने को मना किया था। इसके बजाय उन्हें 'इज़रायल की खोई हुई भेड़ों' के पास भेजा था। ईसा ने अपना काम यहूदियों को पुनः ईश्वर-भक्ति में लगा देना निर्धारित किया था।

ईसा ने स्वयं को अपने पूर्वजों के अतीत से अलग कर लिया और अपने जीवन तथा शिक्षाओं से एक आध्यात्मिक धर्म के मूलाधारों को प्रस्तुत किया। वे अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कुछ कहते थे। "मेरी शिक्षाएं मेरी नहीं, उसकी हैं, जिसने मुझे भेजा है।···अपनी आत्मा से बोलनेवाला अपनी महत्ता बढ़ाता है किन्तु जो अपने भेजनेवाले की महत्ता बढ़ाना चाहता है, अपनी महत्ता भी बढ़ा लेता है।"[3] ईसा अपनी ईश्वरमय चेतना से प्रेरित होकर बोलते हैं। ईसा सारी मान्यताओं को ठुकरा देते हैं। कोई कुछ भी कहता रहे, 'मैं तुमसे कहता हूं'। अपने अनुभव से प्रमाणित सत्य उनका आधार है। उनके लिए सत्य कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं वरन् आध्यात्मिक जीवन है। उनकी शिक्षाओं में यहूदी धर्म की सारी कानूनी पेचीदगियों की उपेक्षा है और कहा गया है कि मानवापेक्षित सभी बातें दोनों पुराने आदेशों में मौजूद हैं। 'तुम्हें अपने प्रभु परमेश्वर को प्यार करना चाहिए।' 'तुम्हें अपनी ही तरह अपने पड़ोसियों को प्यार करना चाहिए।' ईसा के धर्म में इन दोनों सरल बातों की मान्यता है। संट जॉन का कथन है : 'कानून के प्रणेता मूसा थे, और दया तथा सत्य के ईसा।' ईसा से परमेश्वर के राज्य का स्पष्टीकरण करने को कहा गया तो उन्होंने कहा : "परमेश्वर का राज्य प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं पड़ता; और न यही कहा जा सकता है कि वह अमुक-अमुक स्थान पर है ! क्योंकि परमेश्वर का राज्य अन्तःकरण में

१. I. ६।
२. 'मैथ्य' XV. २६।
३. 'जॉन' VII १६-१८।

है।"[1] हम स्वयं के जितने समीप हैं, परमेश्वर उससे कहीं अधिक हमारे समीप है। अपने अन्तस् के परमेश्वर को पहचानना हमारा कर्तव्य है। मानवीय तथा दैवी व्यवस्थाओं के बीच कोई दुर्भेद्य बाधा नहीं है।[2] यदि मानव सर्वथा भ्रष्ट हो और आत्मिक संसार से उसका कोई लगाव न हो तो धर्म का संदेश उसके हृदय में कभी भी प्रवेश नहीं पा सकता। यूनानी दर्शन के कुछ तत्त्वों में व्यक्त परमेश्वर और व्यक्ति के बीच का अन्तर ईसाई धर्म में भी प्रविष्ट है। मानव-स्वभाव व्यक्तिगत और 'सर्वप्रथम' पाप के कारण कमज़ोर हो चुका है, इसलिए रचनात्मक कार्यों के अयोग्य समझा जाता है। मानव एक प्रकार से प्रकृति की उपज है, परिवर्तनशील है, आवश्यकता के आगे झुकता है, अपने भावावेगों द्वारा संचालित होता है, किन्तु वह आत्मा की चिनगारी भी है और इसीलिए वह प्रकृति तथा जगत् से परे भी है। प्रकृति और आत्मा के संगम पर खड़े मानव के अन्तर में परमेश्वर से मिलन का बिन्दु मौजूद है। 'स्वर्ग से उतरे हुए व्यक्ति को छोड़कर कोई अन्य व्यक्ति स्वर्ग नहीं पहुंच सकता।'[3] ईसा मनुष्य के बेटे थे और ईश्वर के भी। वे अस्तित्व के दोनों स्तरों—सांसारिक और स्वर्गिक—के सम्पर्क में थे। वे मध्यस्थ के रूप में आए थे। मानव की हैसियत से उनके सामने अनेक प्रलोभन थे। यहां तक कि जीवन की आखिरी घड़ी में उन्हें प्रलोभन दिये गये। "मेरे परमेश्वर, तुमने मुझे त्याग क्यों दिया है?" उन्हें मानसिक यातनाएं सहनी पड़ीं। उनके लिए सब कुछ बड़ा कष्टप्रद था। वे आन्तरिक शंकाओं और संघर्षों, प्रलोभनों और द्वन्द्वों पर विजय पा सके, इसीलिए वे मानवमात्र के लिए आदर्श बन सके। ईसा की प्रबुद्धता और व्यक्तित्व का विकास होता गया। "बच्चे की उम्र बढ़ती गयी, उसकी आत्मा मज़बूत होती गयी, बुद्धि का विकास हुआ और ईश्वर

---

१. बैरन वॉन ह्यूगेल ने सेंट टामस एक्विनास की निम्न पंक्तियों को उद्धृत किया है: "संसार में अंधापन अत्यन्त विस्तृत है और हमेशा परमेश्वर की खोज में लगे रहकर, लगातार परमेश्वर के लिए आहें भरकर, और उसकी अक्सर कामना करके अनेक लोग महान गलती करते हैं, जबकि इस सारे समय परमेश्वर उन्हींके भीतर निवास करता है…क्योंकि उनकी आत्माएं ही परमेश्वर के मन्दिर हैं जहां वह सदैव उपस्थित रहता है।" 'दे बियतीत्यूदाइन', III. ३। बैरन वॉन ह्यूगेल: 'मिस्टिकल एलेमेंट आफ़ रिलीजन', दूसरा संस्करण (१९२३), II. पृष्ठ १५१-२।

२. ऑगस्टीन का कथन है: "मानव स्वयं से भी निर्वासित हो चुका है, इसीलिए लिखित कानून की व्यवस्था है। इसलिए नहीं कि ये कानून हृदय में अंकित नहीं हैं बल्कि इसलिए कि उसने अपने हृदय को ही त्याग दिया है।"

३. जॉन III. १३।

का उसपर अपार अनुग्रह था ।"[1] उन्होंने मानवीय और दैवी के बीच की खाई को पाट दिया ।

'स्वर्ग का साम्राज्य' का अर्थ है मानस की एक अवस्था, अस्तित्व का एक उच्चतर स्तर, ज्ञान-प्राप्ति की अवस्था, बोधि, विद्या । सत्य से स्वतंत्रता मिलती है । ईसा के 'पश्चात्ताप' का अर्थ है चेतना में परिवर्तन । पश्चात्ताप ग्रीक भाषा के एक शब्द 'मेटा-नोइया' का अनुवाद है । इसका अर्थ है चेतना में परिवर्तन, आन्तरिक विकास, ज्ञान का उच्चतर स्तर । मानव-मन उच्चतर सत्य की अनुभूति के योग्य हो जाता है ।[2] यह केवल प्रायश्चित्त अथवा पश्चात्ताप नहीं है, वरन् मस्तिष्क और मन का आमूल परिवर्तन है, हमारे दृष्टिकोण में क्रान्ति है, अविद्या के स्थान पर विद्या की स्थापना है । यह सोचने, अनुभव करने, और कार्य करने का एक नया ढंग है । यह पुनर्जन्म है । ईसा ने नीकुदेमुस से कहा था : "नये सिरे से जनमे बिना कोई भी व्यक्ति परमेश्वर का राज्य देख नहीं सकता ।"[3] प्राकृतिक मनुष्य का नहीं वरन् लुप्त, आन्तरिक, आध्यात्मिक मानव का पुनर्जन्म होता है । यह विकास का अगला कदम है । "पश्चात्ताप करो तो तुम्हारा परिवर्तन हो ।"[4] यह हमारी चेतना का एकदम उलट जाना है । "यदि तुम परिवर्तित होकर बच्चों के समान बन जाओ ।"[5] हमारे भीतर का बालक ही संसार की माया और रहस्य के प्रति उत्सुक होता है । हम तो साधारणतः भौतिक जगत् और इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं में ही खोए रहते हैं । जीवन का रहस्य जीवन द्वारा ही नष्ट कर दिया जाता है और एक स्मृति भर रह जाता है, और क्षण-भर को ही कभी-कभी उन बातों की याद आती है जिन्हें हम कभी जानते थे या जो कभी हमारे पास थीं । हमें अवश्य ही अपनी खोयी हुई निधि को पुनः प्राप्त करना चाहिए,[6] ताज़गी और स्वाभाविकता को फिर पाना चाहिए । मानव को अवश्य बदलना है । एफीसियाइयों से लेखक कहता है : "सोनेवालो, जागो और मृतकों से ऊपर उठो ।"[7] संगठित और बाह्य-विस्तृत होने से पहले, प्रारंभ में, ईसाई उपदेशों का सार

---

१. 'ल्यूक' II. ५२ ।

२. तुलना कीजिए । 'एक्लेजियास्टस' : "उसने मानव-मन में अनन्त-अनादिकाल का ज्ञान उत्पन्न किया है ।" III. ११ ।

३. 'जॉन' III. ११ ।

४. 'ऐक्ट्स आफ़ द अपासिल्स' III. १९ ।

५. 'मैथ्यू' XVIII. ३ ।

६. 'बृहदारण्यक उपनिषद्' III. ५. १ ।

७. V. १४ ।

आन्तरिक ज्योति के प्रकाश के कारण नींद से जागृति में पहुँचना ही था। बुद्ध की तरह ईसा भी जागरित थे और दूसरों को जागृति का उपाय बताते थे। स्वर्ग का साम्राज्य कहीं भविष्य में नहीं है। वह हमारे समीप है। वह हमारे भीतर है। इस अवस्था को प्राप्त करने पर हम नियमों से मुक्त हो जाते हैं।" सब्त का दिन मनुष्य के लिए है, मनुष्य सब्त के लिए नहीं।।"[1]

इंजील के उपोद्घात में सेंट जॉन ने कहा है: "परन्तु जितनों ने उसका स्वागत किया, उसके नाम पर विश्वास किया, उन्हें उसने ईश्वर की सन्तान बनने की शक्ति प्रदान की।"[2] ईश्वर की सन्तान या पुत्र का अर्थ केवल ईश्वर-विरचित प्राणी नहीं है, बल्कि सेंट पीटर के शब्दों में, 'ईश्वरीय प्रकृति का साझेदार' है। अन्तिम भोज के समय ईसा की ईश्वर-प्रार्थना के सेंट जॉन द्वारा किये गये वर्णन से यह स्पष्ट है: "कि वे सब एक हो जाएं; हे पिता, जिस प्रकार तू मुझमें है और मैं तुझमें हूं, वैसे ही वे हममें हों…जो महिमा तूने मुझे दी, उसे मैंने दे दी है जिससे कि वे भी एक हो जाएं, जिस तरह हम एक हैं।"[3] हममें से प्रत्येक ईश्वर का अवतार बन सकता है।[4] सेंट जॉन के उपोद्घात के शब्दों में 'लोगोस' ही "सच्ची ज्योति है, जो संसार में आकर, प्रत्येक मनुष्य को ज्योतिर्मय बनाती है।"

ईश्वर मस्तिष्क में उपजनेवाला विचार नहीं, अनुभव किया जानेवाला सत्य है। जूडावाद में आस्था रखनेवाले कोरिन्थियाई ईसाइयों के विरुद्ध पॉल ने कहा था: "क्या गर्व करना किसीके लिए ठीक है? क्या इससे कोई लाभ हो सकता है? फिर भी मैं प्रभु के दर्शनों और प्रकाशों की चर्चा करूंगा। मैं ईसा नामक एक व्यक्ति को जानता हूं जो चौदह वर्ष पहले स्वर्ग-लोक की ओर उठा लिया गया। (देहरहित या देहसहित, मैं नहीं जानता, परमात्मा जानता है)। और मैं जानता

---

१. मार्क II. २७।

२. I. १२।

३. XVII. २१-२।

४. यह बात संदेहास्पद है कि ईसा ने कभी स्वयं को ईश्वर द्वारा नियुक्त उद्धारकर्ता कहा हो। स्वर्गीय प्रोफेसर आर. एच. लाइटफुट का कथन है: "तब तो लगता है कि ईसा के भौतिक और स्वर्गिक दोनों रूप हमसे अदृश्य ही हैं। इंजीलों का मूल्य अपार होने के बावजूद वे ईश्वर के अस्फुट शब्दमात्र हैं; हमें उनमें ईश्वरीय ढंगों का आभास भर मिलता है।" 'हिस्ट्री ऐंड इण्टरप्रेटेशन इन द गॉस्पेल्स' (१९३५), पृष्ठ २२५। सेंट पॉल गिरजे के डीन मैथ्यूज़ का कथन है: "मेरे विचार से सेंट पॉल ने भी कभी ईसा को परमेश्वर का समकक्ष नहीं माना है। उनकी कृतियों में परमेश्वर का बेटा हमेशा 'पिता' से छोटा है और संदिग्ध है कि वह कभी इस अथानासियाई विश्वास को स्वीकार करता कि ईसा 'ईश्वर के समकक्षी और स्वयं ईश्वरत्व के समीप थे।' "—'द प्रॉब्लम ऑफ़ क्राइस्ट इन द ट्वेंटियथ सेन्चुरी' (१९५०), पृष्ठ २२।

हूं कि उसे स्वर्ग ले जाया गया और मैंने ऐसी अवर्णनीय बातें सुनीं जिन्हें मुंह पर लाना मनुष्य के लिए उचित नहीं।"[1] धर्म ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान और चेतना का विकास है। ईसा को ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान था और उनकी चेतना विकसित थी। सट पॉल के इन शब्दों, 'ईसा के स्वभाव के समान अपना भी स्वभाव बनाओ',[2] का संकेत धार्मिक चेतना, परम पिता की सर्वव्यापकता की अनुभूति, परमेश्वर के साथ संयोग की ओर है। "तुम्हें अपने प्रभु-परमेश्वर को अपने सम्पूर्ण हृदय, आत्मा और मस्तिष्क से प्रेम करना चाहिए।" हमें ईश्वर को अपने सम्पूर्ण अस्तित्व समेत प्रेम करना चाहिए। ऑगस्टीन के, मृत्यु से पूर्व, स्पष्ट कथन का सबसे प्रसिद्ध वाक्य है: "तुमने हमारी सृष्टि अपने लिए की है, और हमारे हृदय जब तक तेरा आश्रय न पा जायंगे, बेचैन रहेंगे।" भजन-संहिता में एक टिप्पणी है: "जिस प्रकार हिरनी पानी के चश्मे के लिए आकुल रहती है, उसी प्रकार, हे परमेश्वर, मैं तेरे लिए आकुल हूं।"[3] ईसा का मत है कि मानस-परिवर्तन हो, चेतना का उदात्तीकरण हो। हम लोग साधारणतः इन्द्रियवशात् बाह्य जीवन जीते हैं। हम तथाकथित 'शरीर के मस्तिष्क', इन्द्रिय-आधृत मस्तिष्क, के आधार पर जीते हैं। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप तो कभी उभर ही नहीं पाता। आन्तरिक परिष्कार द्वारा ही मनुष्य सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

हमें ईसा के समान ईश्वर के प्रति जागरूक होना चाहिए। हमारे भीतर यह जागरूकता लुप्त, क्षीण और अपूर्णतः विकसित है। ईसा में यह सम्पूर्णतया व सशक्त रूप में विद्यमान थी, सर्वप्रथम मानव, आदम, का अवतरण हमारे लिए पहली बार जनमे व्यक्ति का जीवन है; द्वितीय आदम का अवतरण दुबारा जन्म लेने की अवस्था है। मानव-जाति के लिए आत्मिक रूप से, दुबारा जन्म लेना आवश्यक है।

ईसा का अवतरण सार्वभौम सत्य का विशिष्टतम उदाहरण है। ईसा हमारे

---

१. II. 'कोरिन्थियन्स', XII. १—४। टॉमस एक्वीनास का कथन है: "ईश्वरीय सत्ता को कृत्रिम ज्ञान द्वारा नहीं, महिमा के प्रकाश द्वारा पहचाना जा सकता है, जिसके बारे में लिखा है (भजन-संहिता, XXXV. १०): 'तुम्हारे ही प्रकाश में हम प्रकाश को पहचान सकेंगे।' किन्तु इस प्रकाश को दो ढंगों से देखा जा सकता है। प्रथम, स्थायी स्वरूप के माध्यम से; इस प्रकार स्वर्गीय सन्तों की महिमा-वृद्धि होती है। द्वितीय, अस्थायी लालसा द्वारा और भावातिरेक में यही प्रकाश सेंट पॉल को प्राप्त हुआ था। इसी कारण इस ज्योति ने उन्हें परम महिमामय नहीं बनाया कि प्रकाश उनके सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता, किन्तु सीमित प्रकाश ही मिल सका।"—'सुमा थियोल' II. १७५, ३।

२. 'फ़िलिपियन्स' II. ५।

३. XLII. १।

लिए दैवी जीवन के आदर्श हैं। उनसे प्रेरित होकर हम केवल ईसाई नहीं, वरन् स्वयं ईसा बन सकते हैं। इरेनियस के शब्दों में ईसा ने मानवता का पुनरवलोकन किया।

ईसा की दृष्टि में, अध्यात्मविद्या धर्म का मूल तथ्य नहीं है। सारे ढंग और सत्य इसी जीवन में समाप्त हो जायेंगे। परमेश्वर के अस्तित्व का आभास आवश्यक है, उसके शाब्दिक वर्णन की आवश्यकता नहीं। मत-सिद्धांत तो कृत्रिम संस्कृतियों की लाभदायक कल्पनाएं हैं, जिनमें वास्तविकताओं के स्थान पर शब्दों का प्रयोग किया जाता है। पृथ्वी पर हम 'शीशे के आर-पार काला-काला देखते हैं।'[1]

ईश्वर की आकाशवाणी जुडाई देन है। आकाशवाणी द्वारा ईश्वर सत् का ज्ञान प्रदान करते और उसे प्राप्त करने की शक्ति देते हैं। मनुष्य की अच्छाई ईश्वर की महिमा का दान है। इसमें एक प्रकार का नम्रता का भाव निहित है, "हे परमेश्वर, मुझ पापी पर दया करो।"[2] ईसा का मत है कि मानव के भाग्य का ज्ञान देन ही नहीं वरन् एक उपलब्धि भी है। इसके लिए परिश्रम, आराधना, व्रत तथा चिन्तन-मनन का जीवन व्यतीत करना आवश्यक है।[3]

ईसा का धर्म यद्यपि सीधा-सादा है किन्तु उसका पालन आसान नहीं। अपनी व्यक्तिगत रुचियों का परित्याग करके केवल परमेश्वर की आज्ञा का पालन करना होगा। 'चौथी इंजील' में ईसा ने कहा है: "मेरा एकमात्र कर्तव्य है अपने भेजने-

---

१. 'कोरिन्थियन्स' XIII. १२। सन् १९०० की अपनी डायरी में रिल्क ने लिखा है कि ईसा के प्रति हमारा दृष्टिकोण हमें ईश्वर से विलग करता है। "नव-वयस्कों के लिए ईसा अत्यंत समीपस्थ एक बहुत बड़ा खतरा है जो ईश्वर को दृष्टि से ओझल कर देता है। उनमें मानवीय पैमाने से ईश्वर को पाने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। वे क्षीणकाय हो जाते हैं और बाद में अनन्त की ऊंचाइयों की तीखी हवा में जम जाते हैं। वे ईसा, मरियम और सन्तों के बीच भटकते रह जाते हैं; व्यक्तियों और स्वरों के बीच स्वयं को खो बैठते हैं। आंशिक वर्णनों से उनका भ्रम टूट जाता है, वे न चकित होते हैं न आतंकित, और न प्रतिदिन के जीवन से छुटकारा पाते हैं। वे अपने उद्देश्य से विरक्त हो जाते हैं और ईश्वर को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि वे विरक्त न हों।" 'रेनर मारियारिल्क': एफ. डब्ल्यू. वान हीरी खुईज़ेन (१९५१) पृष्ठ ३५६।

२. 'ल्यूक' XVIII. १३।

३. सेंट क्लीमेंट ने चिन्तन-मनन की महिमा का वर्णन यों किया है: "यह शुद्ध हृदयों का विचारवान स्वप्न है, और विशिष्ट ज्ञानियों का ही काम है कि वे ईश्वर से साक्षात्कार करें: यथा-संभव ईश्वर के समान बनें।" 'स्ट्रोमेटा' VII. ३। ओरिजेन ने इसी प्रकार के शब्दों में आध्यात्मिक संयोग का ढंग समझाया है: "ईश्वर...परम सत् है, और अपने हृदय में ईश्वर की वाणी की उपस्थिति का अनुभव करके, पवित्रता और निर्विकारता द्वारा मनुष्य ईश्वर के समान बन सकता है।"

वाले की आज्ञा का पालन और उसके कार्य की सम्पूर्ति।"[1] हममें से प्रत्येक को ईश्वर द्वारा निर्धारित अपने कर्तव्य के प्रति सजग रहना चाहिए।

बुद्धि का विकास मायाजाल से मुक्त होने पर ही होता है, फिर भी जीवन की क्रूरता को मान्यता और असत् की स्वीकृति कभी नहीं दी गयी। हमारे लिए उपदेश है कि हम अपने पड़ौसी को प्यार करें। किन्तु उसे पापी समझकर प्यार करने का उपदेश नहीं है वरन् उसमें विद्यमान ईश्वर के लिए मानव समझकर प्यार करने का है। सेंट पॉल ने लिखा था : "आस्था, आशा और प्रेम तीनों का निवास है, और तीनों में प्रेम सर्वोत्कृष्ट है।" "प्रेम व्यवस्था की सिद्धि है।"[2]

ईसा ने एक सार्वभौम नैतिकता की घोषणा की है कि सभी मनुष्य बन्धु हैं, एक ही 'पिता' की सन्तान।[3] 'गुड समारितन' के दृष्टान्त में ईसा ने पड़ौसी की नयी परिभाषा दी है। हर आवश्यकताग्रस्त प्राणी और हर प्राणी जिसकी सहायता करने की सामर्थ्य हममें हो, हमारा पड़ौसी है। सेंट पॉल ने क्लीन्थीज़ रचित ज्यूस के प्रति भजन से उद्धरण दिया है : "हम उसीमें जीवित, परिचालित हैं, उसीमें हमारी सत्ता हैं, जैसाकि तुम्हारे कुछ कवियों ने कहा है, 'क्योंकि हम वास्तव में उसकी ही सन्तान हैं।'"[4] ईसा का उपदेश है : "अपने शत्रुओं से प्रेम करो, अपना बुरा चाहनेवालों का भला चाहो, अपने घृणा करनेवालों का भला करो, अपने सतानेवालों के लिए प्रार्थना करो; तभी तुम अपने स्वर्ग-स्थित 'पिता' की सन्तान बन सकोगे।"[5] सेंट पॉल का कथन है : "ईसा न यहूदी है, न यूनानी, न बर्बर, न साइथियाई; वह न दास, न स्वतन्त्र; फिर भी ईसा नामक एक व्यक्ति में वे सब समाहित हैं।"[6] ये सारे अन्तर असंगत हैं क्योंकि जीवन सम्पूर्ण और अविभाज्य है। हम एक-दूसरे के अंग हैं। ईसा का कहना है कि हमें सम्पूर्ण मानवता का उत्तरदायित्व ग्रहण करना चाहिए। देश-विदेश के निवासियों और

---

१. IV. ३४।

२. 'रोमन्स' XIII. १०।

३. 'मैथ्यू' XVIII. १०।

४. 'ऐक्ट्स' XVII. २८।

५. 'मैथ्यू' V. ४४। XXVI. ५२ भी देखिए।

६. 'कोलोसियन्स' III. ११। राइसब्रोएक का कथन है : "हमारे पास यही वह प्रकृति-प्रदत्त अच्छाई है जो हमारी आत्मा के साथ अनिवार्यतः एक है और आत्मा के भीतर उसका ऐक्य ईश्वर के साथ है। इससे न हम पवित्र हो जाते हैं, न ईश्वर के कृपापात्र, क्योंकि अच्छे या बुरे सभी आदमियों के भीतर वह होती है, किन्तु यह अच्छाई निश्चय ही पवित्रता और कृपापात्रता का प्रथम कारण तो है ही।" पी. वाइनशेंक डॉमकृत 'जॉन ऑफ़ राइसब्रोएक' (१९१६) में लेखक द्वारा 'एडॉर्नमेंट ऑफ़ द स्पिरिचुअल मैरिज' II. ५७ का अंग्रेज़ी अनुवाद।

संस्कृतियों का अन्तर्मिलन कोई असंभाव्य आदर्श नहीं बल्कि व्यावहारिक वास्तविकता है।

ईसा के जीवन से प्रभावित होकर जब कुछ लोगों में उन्हें दैवी अवतार मानने की प्रवृत्ति जागी, तो 'लोगोस' सिद्धान्त ने उनके विश्वास को तर्कसंगत रूप प्रदान किया। पॉल के पत्रों में संसार और इतिहास के साथ ईसा के सम्बन्ध को ईश्वरीय विवेक और उसका प्रत्यक्षीकरण माना गया है। जॉन ने इस दृष्टिकोण को और विकसित रूप दिया। दैवी 'लोगोस' अनन्तकाल से वर्तमान है और ईश्वर के साथ मिलकर एक इकाई का निर्माण करता है। यह उसकी आत्मविज्ञप्ति का साधन है। यह संसार ईश्वरीय 'लोगोस', परमेश्वर का विवेक अथवा विचार की विज्ञप्ति है। इसका विज्ञापन मानव के मस्तिष्क में, विशेषतः ईश्वरवाणीप्राप्त मनुष्यों, पैगम्बरों और सत्य के प्रति जागरूक किसी भी देश के लोगों के मस्तिष्क में होता है। मनुष्य के मस्तिष्क में इस उद्घाटन का समुचित परिणाम नहीं निकला और मनुष्य ईश्वर के समान बनने की दिशा में प्रगति न कर सके। इसीलिए ईश्वरीय ज्ञान की ज्योति एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व में प्रस्फुटित हुई। "'लोगोस' हाड़-मांस का शरीर धारण कर हमारे बीच आया और हमने उसकी महिमा देखी।" 'लोगोस' द्वारा ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाशन सर्वप्रथम सृष्टि में हुआ[1], फिर मानव-जाति में, फिर पैगम्बरों में और अन्ततः ईसा में।

हम कुछ भी करें, ईश्वर का प्रेम हमपर सदैव बना रहता है। सेंट पॉल का कथन है: "क्योंकि मुझे विश्वास है कि मृत्यु, जीवन, फरिश्ते, प्रधानताएं, शक्तियां वर्तमान अथवा भविष्य, ऊंचाई, गहराई या कोई और प्राणी, इनमें से कोई भी हमें परमेश्वर के प्रेम से अलग नहीं कर सकता; यही प्रेम हमारे प्रभु ईसा में विद्यमान है।"[2]

ईसा के जीवन और उपदेशों के साथ 'नरक-अग्नि' सिद्धान्त का कोई साम्य नहीं

---

१. "यदि मैं ऊपर उठकर स्वर्ग पहुंचूं, तो तू वहां है।
यदि मैं नरक में रहूं, तो आश्चर्य, तू वहां भी है।" 'भजन-संहिता' १३९,८।

२. 'रोमन्स' VIII ३८–३९। ऑगस्टीन का कथन है: "यदि तुम्हारा निवास मेरे भीतर न होता तो मेरा अस्तित्व ही न होता, फिर मैं क्यों चाहूं कि तुम मेरे समीप आओ? इसलिए, हे मेरे परमेश्वर, यदि तुम मेरे भीतर निवास न करोगे तो मैं कहीं का न रहूंगा, मेरा अस्तित्व ही न रह जाएगा। अथवा, यदि तुममें मैं न होता, तो भी मेरा कोई अस्तित्व न होता, क्योंकि तुम्हींमें सारी वस्तुएं निहित हैं, तुम्हींसे सारी वस्तुओं की सृष्टि हुई है और तुम्हीं सारी वस्तुओं के सर्जक हो। मैं तो तुममें ही हूं, फिर तुम्हारे पास कैसे आऊं? या तुम मेरे पास कहां से आ सकोगे? क्योंकि स्वर्ग और धरती के बाहर मैं कहां जाऊं, जहां तुम मेरे पास आ सको, हे परमेश्वर, तुम्हींने तो कहा था कि 'मैं स्वर्ग और पृथ्वी में परिव्याप्त हूं।'" 'एपिस्ट' C. C. XXXII.

है। ईसा कहते हैं कि हमारे बंधु चाहे 'सात के सत्तर गुने बार'[1] हमें कष्ट पहुंचायें, हमें उन्हें क्षमा कर देना चाहिएं। ईसा की अपेक्षा यह है,तो फिर परमेश्वर की इच्छा भिन्न नहीं हो सकती। यदि ईश्वर निरन्तर नरक-अग्नि के लिए उत्तरदायी है, तो निश्चय ही उसमें कुछ अदैवी होगा। यह सत्य है कि हम स्वतन्त्र हैं, किन्तु मानवीय स्वतंत्रता का उपभोग करने के लिए आवश्यक तो नहीं कि परमेश्वर का अमानवीकरण कर दिया जाय : यदि हमसे दयालुता बरतने की आशा की जाय, तो आवश्यक नहीं कि हम ईश्वर के प्रति सहृदय न हों। "क्योंकि वह अच्छे और बुरे दोनों पर अपने सूर्य की रोशनी चमकाता है तथा न्यायी और अन्यायी दोनों पर अपनी वर्षा करता है।"[2] यदि नरकवासी सदैव ईश्वर का विरोध करने में समर्थ है तो वह पश्चात्ताप और परिवर्तन में भी अपनी स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है।

अभिमान और घृणा से हमारा स्वभाव चाहे जितना कलुषित हो चुका हो, हम अपने भीतर विराजित देवत्व को समाप्त नहीं कर सकते। यदि हम परमेश्वर हर जगह नहीं देख सकते, तो फिर कहीं नहीं देख सकते। एक धार्मिक व्याख्या के अनुसार, ईसा की मानवता सम्पूर्ण मानवता की प्रतिनिधि है, और ऐतिहासिक ईसा ही नहीं, समस्त मानव-जाति को इस 'अवतार' का लाभ मिलेगा। संसार का अन्त समस्त सृष्टि का अन्तःसाध्य है। सेंट अथानासियस ने मानव और सम्पूर्ण सृष्टि के संदर्भ में कहा है : "परमेश्वर इसलिए मनुष्य बना कि मनुष्य परमेश्वर बन सके।"

दूसरे मतानुयायी, किन्तु अच्छाई में विश्वास रखनेवाले, व्यक्तियों को भी ईसा अपना मित्र मानते हैं। कुछ लोगों ने ईसा से पूछा कि क्या विधर्मियों को अपने ढंग से अच्छाई बरतने देना चाहिए, तो ईसा ने उत्तर दिया : "जो हमारा विरोध नहीं करते, हमारे सहयोगी हैं।" सेंट पॉल के शब्दों में चर्च 'सभी के लिए सब कुछ होना चाहिए।' इसे सभी आत्माओं पर समान पद्धति की न तो आशा करनी चाहिए और उसे न थोपना चाहिए।

महानतम ईसाई अध्यात्मवादी इस मत को स्वीकार करता है कि हम परमेश्वर की प्रकृति का सकारात्मक प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकते। सेंट टॉमस एक्विनास का कथन है : "दैवी भावना के व्यवहार में लाने का मुख्य ढंग परित्याग का है। कारण अपनी विशालता के बल पर वह भावना हमारे ज्ञान की सीमा के भीतर के सारे आकारों से परे हो जाती है; इसीलिए, अपने ज्ञान द्वारा उसका स्वरूप नहीं जान सकते।"[3] पुनः "परमेश्वर को जानने का ढंग है उसे न जानना, हमारे मस्तिष्क की

१. 'मैथ्यू' XVIII. २२।

२. 'मैथ्यू' V. ४५।

३. 'सुम्मा कोन्ट्रा जेन्टील्स', I, XIV।

सीमा से परे परमेश्वर के साथ संयोग करना—जब मस्तिष्क सारी चीजों से अलग हट जाता है, स्वयं को भी त्याग देता है और फिर परमेश्वर की परम-ज्योतिर्मय किरणों में लय हो जाता है।··· परमेश्वर के परिज्ञान की इस अवस्था में हमारे ज्ञान से परे की दैवी ज्ञान की रश्मियां मस्तिष्क को आलोकित कर देती हैं, क्योंकि उस परमेश्वर को पहचानना सम्पूर्ण सत्ता से ही ऊपर नहीं वरन् हमारी ज्ञान की सारी सीमाओं से ऊपर है, और यह केवल दैवी ज्ञान से ही संभव है।"[1]

अध्यात्मवाद मोक्ष के लिए आवश्यक निश्चित और शुद्ध विश्वासों पर अधिक बल देता है। इससे विपरीत महानतम ईसाई विचारक कहते हैं कि हम शीशे के आर-पार धुंधला-धुंधला देखते हैं और शुद्धतापूर्वक कुछ नहीं कह सकते। एक हार्ट का कथन है : "निश्चित स्वरूपों के भीतर परमेश्वर को खोजनेवाला व्यक्ति स्वरूप तो पा लेता है किन्तु उसके भीतर स्थित ईश्वर को नहीं प्राप्त कर पाता। किसी निश्चित स्वरूप में परमेश्वर को न खोजनेवाला व्यक्ति उसे प्राप्त कर लेता है क्योंकि परमेश्वर उसके भीतर ही है; और ऐसा व्यक्ति 'परमेश्वर के बेटे के साथ रहता है' और स्वयं जीवन बन जाता है।"[2]

ईसा के उपदेशों में तपस्या का पुट है, जो सभी सच्चे धर्मों का अंग है। क्रॉस एक साधन है जिसके बल पर मनुष्य अपनी प्रकृति से ऊपर उठ सकता है। परमेश्वर के पदचिह्नों का अनुसरण करने के लिए हमें सब कुछ परित्याग कर देना चाहिए। "सिद्धि प्राप्त करने के लिए," ईसा ने कहा था, "आवश्यक है कि अपना सब कुछ बेच डालो, गरीबों को दे डालो; तुम्हें स्वर्ग में अपार धन-सम्पदा मिल जाएगी।"[3] मिस्र के पूर्वी चर्च में यह आमंत्रण गंभीरतापूर्वक स्वीकार किया गया, क्योंकि वहां साधुओं की उपस्थिति का उल्लेख है। सेंट एण्टनी (२७० ईसवी) ने एकाकी जीवन आरंभ किया, वे मरुभूमि में एक खाली मकबरे के भीतर जा बैठे और इसी तरह बीस साल बिता दिए। सेंट अथानासियस कृत 'लाइफ़ आफ़ सेंट एण्टनी' के लैटिन अनुवाद द्वारा मठवाद पश्चिम पहुंचा।

पूर्वी रोमक साम्राज्य के तपस्वियों ने एक सूफ़ी (मिस्टिक) अध्यात्म का प्रतिपादन किया जिसमें ईश्वर के साक्षात्कार और ईश्वरत्व-संयोग पर बल दिया गया है। हममें से प्रत्येक को एक नयी दुनिया का संदेशवाहक बन जाना चाहिए, जो अभी अजनमी है किन्तु जन्म के लिए कराह अवश्य रही है।

ईसा का सम्पूर्ण जीवन और उनके सिद्धान्त इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें यहूदी

१. कमेंट द डिविनिस नॉमिनिबस', VII, १.४।

२. 'एंकीरिडियन', CX. VII.

३. 'मैथ्यू' XIX. २१।

अथवा यूनानी विचारों का स्वाभाविक विकास नहीं माना जा सकता। स्वर्गीय सी. एफ़. ऐण्ड्रूज़ भारत की धार्मिक विभूतियों की साधुता से अत्यधिक प्रभावित होकर सोचने लगे थे कि ईसा का सौंदर्य अवश्य भारत से अनुप्राणित है। उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को लिखा था :

"इतिहास के अध्ययन से मैंने समझना प्रारंभ कर दिया है कि ईसाई धर्म स्वतंत्र सेमिटिक उत्पत्ति का नहीं है किन्तु हिन्दू विचारों और जीवन से उद्भूत है।...ईसा मुझे अद्भुत, दुर्लभ, सुन्दर पुष्प-से लगते हैं, जिसका बीज उड़कर अंशतः विदेशी भूमि पर जा पहुंचा है। इस तथा अनेक अन्य रूपों में भारत विश्व इतिहास की महाजननी है। यहूदी किसान ईसा, स्वभावतः, अपनी दैवी प्रकृति के एक अंश के रूप में गैरयहूदी अहिंसा के आदर्श को, जो मूलतः हिन्दू धर्म से सम्बंधित है, मानने लगे थे। उनमें सार्वभौम करुणा और सार्वभौम सदाशयता थी, जिनका प्रमाण हमें गैलीलियाई पहाड़ियों पर 'क्रॉस' पर चढ़ने की यंत्रणा में मिलता है।

"इस मुख्य विचार-बिन्दु का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि हम संसार के उच्चतम धर्मों को एक पेड़ की शाखाओं के रूप में देख सकेंगे।... इसका अर्थ यह कि मेरी यात्रा एकाकी होगी, क्योंकि ईसाई विचार-बिन्दु के सभी दावों को मुझे त्यागना होगा, और पश्चिम के मेरे परिचित और प्रेमी ऐसा करने की बात तक नहीं सोच सकते।"[1]

---

१. बनारसीदास चतुर्वेदी और मार्जरी साइक्स लिखित 'सी. एफ. ऐण्ड्रूज़' (१९४९) पृष्ठ १०२ में उद्धृत यह पत्र मार्च १९१४ के प्रारम्भ में, आर. एम. एस. ब्रिटेन पर से रवीन्द्रनाथ ठाकुर को लिखा गया था।

तुलना कीजिये। विल ड्यूरैंट : "भारत भूमि हमारी जाति की माता थी और संस्कृत यूरोपीय भाषाओं की; वह हमारे दर्शन की माता थी; अरबों के द्वारा हमारे अधिकांश गणित की माता थी; बुद्ध के द्वारा ईसाई धर्म में निहित आदर्शों की माता थी; ग्राम-समुदायों द्वारा स्वशासन और प्रजातंत्र की माता थी। भारत माता अनेक प्रकार से हम सबकी माता है।"

द्वितीय व्याख्यान (उत्तरार्ध)

पश्चिम (२)

१. ईसाई धर्म में सैद्धान्तिक विकास

पहली और सातवीं शताब्दियों के बीच पश्चिमी देशों ने ईसाई धर्म की दीक्षा ले ली ; इससे पश्चिम के विकास में एक नया मोड़ आया। प्राचीन संस्कृति और ईसाई धर्म दोनों की जड़ें मजबूती से पश्चिमी यूरोप में जम गई। मिश्रित धार्मिक संस्थाओं द्वारा एक अतीव गंभीर आध्यात्मिक एवं सार्वभौम आस्था यूनानी-रोमक संसार की आवश्यकताओं, विश्वासों और आचारों के अनुसार ढल गयी। इस सिद्धान्त को एक दृढ़ आधार पर तर्कसंगत रूप दिया गया। रोम ने, अपनी व्यावहारिकता और सुसंगठन-प्रेम के बल पर, धर्म को संस्था का रूप देने में मदद की। ईसाई धर्म का हृदय तो पूर्वीय रहा, किन्तु उसका मस्तिष्क अध्यात्म, और शरीर धार्मिक संगठन, यूनानी-रोमक हो गए।[1] सरल पूर्वीय आस्था तथा उसकी सूफी आध्यात्मिकता एवं तर्क और मानवीय विचारों के बीच निरन्तर एक तनाव की स्थिति रही है। सिकन्दरिया के क्लीमेंट का विचार है कि कोरिन्थियाइयों से ईसा का यह कथन सूफ़ी विवेक अथवा संस्कृत ईसाई धर्म के बारे में है : "मैं कामना करता हूं कि तुम्हारी आस्था बढ़े, जिससे मैं तुम्हारी पहुंच से बाहर की बातें तुम्हें

१. प्रोफेसर वर्नर जीगर का कथन है : "यूनानियों ने ईसाई आस्था को सैद्धान्तिक रूप दिया और ईसाई सिद्धान्तों का सम्पूर्ण इतिहास यूनानी संस्कृति की भूमि पर घटित हुआ।... विभिन्न मत, सिद्धान्त और अध्यात्मविद्या निश्चयतः यूनानी मस्तिष्क की उपज हैं और उनका बौद्धिक गठन कुछ इस प्रकार का है कि किसी अन्य कारण से उनमें वे विशेष गुण पैदा ही नहीं हो सकते। फिर भी उनका उद्भव यूनानी धर्म से नहीं हुआ वरन् दर्शन से हुआ जो ईसाई धर्म के साथ अपने संयोग के समय विभिन्न मतों में विभक्त था और प्रत्येक मत की अपनी निश्चित सिद्धान्त-प्रणाली थी। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों के बौद्धिक दृष्टिकोण को हेलेनीय युग के तत्त्ववेत्ताओं अथवा एपीक्यूरस के शिष्यों के अनुसार रूढ़ अर्थों में सिद्धान्त तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी जड़ें वही हैं जिनसे विचार और भाषा दोनों की वृद्धि हुई है।" 'द थियॉलॉजी ऑफ़ अर्ली ग्रीक फिलॉसफ़र्स', (१९४७), पृष्ठ ९२।

बता सकूं।" "इससे वे हमें बताते हैं कि आध्यात्मिक रहस्यों का ज्ञान, जो परम आस्था की अवस्था है, सामान्य उपदेशों से परे की वस्तु है।" "आध्यात्मिक रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करने का उपाय फरिश्तों ने अलिखित रूप से कुछ थोड़े-से आस्थावादियों को बताया था, वहीं से हमें प्राप्त हुआ है।" ऑरिजेन का कथन है: "पवित्र धर्मग्रंथों के विचारों को अपनी आत्मा पर तीन प्रकार से स्थिर करना चाहिए; जिससे सामान्य व्यक्ति की परिशुद्धि तो धर्मग्रंथों के (कहना चाहिए) 'शरीर' से हो सके और कुछ ऊंचाई तक पहुंच चुके व्यक्ति की परिशुद्धि धर्मग्रंथों की 'आत्मा' से। इसके अतिरिक्त निर्दोष व्यक्ति तथा ऐसे व्यक्ति की परिशुद्धि दूसरे प्रकार से हो सकती है जिसके बारे में ईसा ने कहा है, 'हम पूर्णतः गुणी लोगों के समक्ष विवेकपूर्ण बातें कर सकते हैं—सांसारिक अथवा संसार के शासकों के विवेक की बातें नहीं, क्योंकि वे विनाशशील हैं। हम ईश्वर के अज्ञात विवेक की, गुप्त विवेक की, जिसे युगों पूर्व ईश्वर ने हमारे महिमा-वर्धन के लिए निश्चित किया था, बात करते हैं।' ऐसे व्यक्तियों की परिशुद्धि आध्यात्मिक नियम से, जो अनागत का संकेत करती है, होती है। मनुष्यों के समान धर्मग्रंथ में भी शरीर, आत्मा और विवेक हैं।"[१] क्लीमेंट, ऑरिजेन तथा अन्य सन्तों के समान सेंट इरेनियस ने एक मौखिक, गुप्त परम्परा की बात कही है जिसका उद्भव ईसा से हुआ और प्रसारण पैगम्बरों द्वारा। सेंट डेनिस ने 'दो प्रकार की अध्यात्मविद्याओं की' बात कही है 'जिनमें से एक सामान्य है, दूसरी गुप्त' और उनकी अपनी अलग-अलग 'सार्वजनिक' और 'गुप्त' परम्पराएं हैं।[२]

दूसरी शताब्दी में, 'एपॉलॉजिस्ट्स' नामक कुछ लेखकों ने इस नये धर्म की यूनानी दर्शन के सर्वोत्कृष्ट अंशों के अनुकूल जीवन-मार्ग और दर्शन के रूप में प्रशंसा की। जस्टिन मार्टायर का कथन है: "जिन लोगों ने 'लोगोस' के अनुसार अपना जीवन व्यतीत किया है वे सभी ईसाई हैं, फिर चाहे वे नास्तिक ही क्यों न कहे जाते हों। जैसे यूनानियों में सुकरात और हेराक्लाइटस।"[३] संसार को बचाने के लिए परमात्मा

---

१. 'दे प्रिंसिपीज' IV. १। देखिए 'हिब्रूज़' X. १।

२. देखिए, फ्रिट्जॉफ़ शुऑन कृत 'स्पिरिचुअल पर्सपेक्टिव्स ऐंड ह्यूमन फ़ैक्ट्स', अंग्रेजी अनुवाद (१९५४), पृष्ठ ९३-९४।

३. I. 'एपॉलॉजी' ४६। तुलना कीजिए। ऑगस्टीन: "आज जिसे ईसाई धर्म कहा जाता है वह प्राचीनकाल में भी था और मनुष्य-जाति के आदि से ईसा के जन्म तक कभी भी अनुपस्थित नहीं रहा। तभी, पहले से मौजूद सच्चे धर्म का नाम ईसाई धर्म पड़ा।" 'रिट्रैक्शन्स' I.XIII. २। मध्ययुग के सर्वाधिक स्वतंत्र व्यक्तित्व कूसा के निकोलस का कथन है: "ईश्वर ने विभिन्न कालों में, विभिन्न प्रदेशों में अनेक पैगम्बर और शिक्षक भेजे थे, इसीलिए विभिन्न धर्मों में ईश्वर

की जिस वाणी ने ईसा के रूप में अवतार लिया था, वही वाणी पहले के युगों में संसार को शिक्षा देती थी। वाणी ने यहूदियों को ईश्वरीय नियम दिये और यूनानियों को दर्शन। जस्टिन सभी सत्यार्थियों का स्वागत ईसाइयों के रूप में करते हैं, क्योंकि ईसा सत्य हैं।

ईसाई धर्म को हेलेनवाद के साथ मिश्रित करने के अनेक प्रयास किये गये, जिन्हें 'ज्ञानमार्गी' ('नॉस्टिक', यूनानी शब्द 'नॉसिस' से अर्थ : ज्ञान) कहा गया। चर्च अपनी ही संस्थाओं को सुदृढ़ बनाना चाहता था; इसलिए उसे 'ज्ञानमार्ग' से लोहा लेना पड़ा और एक अलग ईसाई अध्यात्म को विकसित करना पड़ा।[1] सिकन्दरिया में एक समय प्लॉटिनस के सहपाठी ऑरिजेन ने यूनानी दर्शन का महत्त्व स्वीकार करते हुए ईसाई सिद्धान्त के विकास में योग दिया। जस्टिन से ऑगस्टीन तक के नवप्लेटोवाद और चर्च के पादरियों के ईसाई धर्म का सम्बंध धर्म के साथ अधिक था, दर्शन और विज्ञान के साथ कम। कॉन्स्टैंटाइन के समय में ईसाई धर्म को राज्य की मान्यता प्राप्त हो गई और थियोडोसियस के शासनकाल में वह साम्राज्य का सर्वमान्य धर्म हो गया।

काउन्सिलें सहधर्मियों को धर्मच्युत होने के अपराध में दंडित करने लगीं और इस प्रकार एक नई रूढ़ि बनी।[2] 'न्यू टेस्टामेंट' में सेंट पॉल उन सभी व्यक्तियों को शाप देते हैं जो (उनकी दृष्टि में) गलत इंजीलों का उपदेश देते हैं।[3] टिमोथी के प्रथम एपिसिल में दो भिन्नमतानुयायी धर्मोपदेशकों को शैतान ('सेटन') के सुपुर्द कर दिया जाता है।[4] सेंट जॉन की इंजील में कहा गया है कि "ईसाई नियमावली न जाननेवाला यह व्यक्ति शापग्रस्त है।"[5] निश्चित विश्वास एक विशेष प्रकार से बने मस्तिष्कों में भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। इस 'भक्तियुग' (Apostolic age) की मुख्य शिक्षा थी बन्धुसम प्रेम की, जिसके स्थान पर अगली

की पूजा विभिन्न ढंगों से की जाती है और उसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।" 'द पेस से कंकार्डेन्शिया फ़िदेई' पंचम (१४५३) का उद्धरण 'हिबर्ट जर्नल', जनवरी १९५४, पृष्ठ १०९ में।

१. चौथी शताब्दी के एक प्रमुख ईसाई, प्लेटोवादी न्यासा के सेंट ग्रेगरी का कथन है : "इस विश्वास से अधिक विशिष्ट यूनानियों में कुछ नहीं है कि धर्म का सार सिद्धान्तों में है।" जीगर कृत 'ह्यूमैनिज़्म ऐंड थियॉलॉजी' (१९४३), पृष्ठ ६०।

२. चौथी शताब्दी के सेंट जॉन क्राइज़ोस्टॉम के साथ तुलना कीजिए : "चर्च को अपनी माता स्वीकार किये बिना आप परमेश्वर को अपना पिता नहीं बना सकते।"

३. 'गैलाशियन्स' I. ८।

४. I. २०।

५. VII. ४९।

तीन शताब्दियों में सुसंगठित प्रभुता के बंधन की स्थापना हो गई जिसमें शारीरिक दंड देने का विधान भी शामिल था। प्रभुता पवित्र और धर्मनिरपेक्ष थी किन्तु धार्मिक विश्वास के अन्य रूपों के प्रति असहिष्णु थी और उसका नारा था : "जो मेरे साथ नहीं है, मेरा दुश्मन है और जो मुझसे मिलकर नहीं रहेगा, नष्ट हो जायगा।"[1]

रोमक साम्राज्य ने समाज का निर्माण नहीं किया। सभी नागरिकों को बांधनेवाले समान आदर्श, सामाजिक उद्देश्य अथवा धार्मिक सिद्धान्त नहीं थे।[2] उसमें मनुष्यों का एक विशाल समुदाय-मात्र था, एक आकारहीन झुंड। सम्राट की सरकार रोमक विजयों का खिलौना-मात्र रह गई, राजनीतिक सुव्यवस्था कायम करनेवाली सरकार नहीं। साम्राज्य का जितना अधिक विस्तार होता गया, साम्राज्य के प्रति भावनाएं उतनी ही कम होती गयीं। आन्तरिक क्षय और बाह्य आक्रमणों से आक्रान्त विशाल भूभाग पर एक केन्द्र से शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चला सकना मुश्किल हो गया। कॉन्स्टैंटाइन ने कुस्तुनतुनिया को पूर्वी रोमक साम्राज्य की राजधानी बनाया और पांचवीं शताब्दी का अन्त होते-होते पूर्वी रोमक साम्राज्य पश्चिमी साम्राज्य से बिलकुल अलग हो गया। अगली दस शताब्दियों तक यह 'दूसरे रोम' के रूप में स्थित रहा। पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्यों का विभाजन भौगोलिक विभाजन—समुद्रतटों और खाड़ियोंवाले यूरोप के प्रायद्वीपीय भाग और मुख्य महाद्वीपीय भाग—के आधार पर हुआ। ईसाई धर्म स्वयं दो प्रकार का हो गया—पश्चिम का कैथोलिक और पूर्व का रूढ़िवादी। रोम और कुस्तुनतुनिया एक ही संस्कृति के भागीदार थे, लेकिन मध्ययुग में सामन्ती यूरोप की सेनाओं ने कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लिया और वे एक-दूसरे से अलग हो गये।

२००–१००० ईसवी के काल में नेतृत्व पूर्व के हाथों में जा पहुंचा और पश्चिमी संस्कृति पूर्व से प्रभावित होने लगी। कुस्तुनतुनिया साम्राज्य के लिए यह बात

---

१. ऑगस्टीन से तुलना कीजिए : "कोई आदमी अच्छा है या बुरा, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह नहीं पूछा जाता कि उसका धर्म क्या है, उसकी आशाएं क्या हैं, वरन् पूछा जाता है कि वह किसे प्रेम करता है।" 'एन्कीरिडियॉन' VII। सेंट पॉल गिरजे के वर्तमान डीन डॉक्टर मैथ्यूज ने कहा था : "ईसाई धर्म-सम्बन्धी झगड़ों का सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि सच्चे ईसाई को पहचानने का मापदंड बदल गया। ईसा ने अपना मापदंड अपने शिष्यों के समक्ष यों रखा था—उनके कार्यों से तुम उन्हें पहचान सकोगे। अब एक विशेष प्रकार के धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्तों को माननेवाला ही सच्चा ईसाई समझा जाने लगा।"

२. रोमक धर्म को 'किसी अदृश्य के सिद्धान्त-सम्बन्धी धर्म में विश्वास न था; उसे केवल दिखावटी पवित्रता और यथार्थता की चाह थी।' डिल कृत 'रोमन सोसायटी फ्राम नीरो टु मार्कस आरेलियस' (१६०४), पृष्ठ ५४४।

सत्य है। यही सबसे बड़ी यूरोपीय शक्ति थी जिसमें पश्चिमी संस्कृति के उच्चतर स्तर उपस्थित थे। कुस्तुनतुनिया पर पूर्वीय प्रभाव इतना गहरा था कि उसे ऐसा पूर्वीय साम्राज्य ही समझा जाता था जिसने ग्रीक भाषा को स्वीकार और रोमक नाम ग्रहण कर लिया था, किन्तु फिर भी वह पश्चिमी संस्कृति की जीवन्त आत्मा से अलग रहा था।[1] घृणित समझे जानेवाले मिस्र के निवासियों में हेलेनीय या पश्चिमी परम्परा से बिलकुल भिन्न एक ईसाई मठवाद का प्रचार हुआ। पूर्व में, लोगों के विचार और वार्ताएं, तर्क और आविष्कार जारी रहे। पश्चिमी साम्राज्य के विनाश के बाद भी कुछ विवेकवान व्यक्ति शान्तिपूर्ण एकान्त स्थानों में बैठकर उपदेश देते थे, धर्मग्रंथों की नकल करते थे और इस तरह उन्हें सुरक्षित रखते थे। यहां-वहां बिखरे मठों या एकान्त कोठरियों में अतीत के धर्म-सम्बंधी प्राथमिक विचारों को ग्रहण करके दूसरों तक पहुंचाने को उत्सुक धैर्यवान विद्यार्थी इकट्ठे होते थे। बर्बरों ने इन्हीं एकान्तसाधकों से शिक्षा ग्रहण की और इन्हीं साधकों ने बुद्धि के विनष्ट संसार का क्रमशः पुनर्निर्माण किया।

२. इस्लाम

परम्परावादी यहूदियों का विचार था कि ईसाई धर्म एकेश्वरवाद की यहूदी विरासत के प्रति वफादारी का दावा तो करता था किन्तु व्यावहारिक रूप से हेलेनीय मूर्तिपूजा और अनेकेश्वरवाद के अधीन हो गया था। उसने उस महान यहूदी उपदेश की उपेक्षा कर दी थी कि "तुम अपने लिए किसी मूर्ति का निर्माण नहीं करोगे, और स्वर्ग, पृथ्वी या पृथ्वी के नीचे पानी में प्राप्त किसी वस्तु की प्रतिकृति तैयार न करोगे। तुम उनके सामने न झुकोगे और न उनकी सेवा

---

१. आज कुछ लोग जोर देते हैं कि कुस्तुनतुनिया की संस्कृति मूलतः पूर्वीय नहीं थी। उदाहरणतः, प्रोफेसर नॉर्मन बेन्स का कथन है कि इस दृष्टिकोण का कोई आधार नहीं है कि कुस्तुनतुनिया साम्राज्य पर क्रमशः पूर्वीय प्रभाव बढ़ता गया। उनकी धारणा है कि "कुस्तुनतुनिया साम्राज्य की मिश्रित सभ्यता के अवयव तत्त्व वास्तव में थे—कानून और सरकार-सम्बन्धी रोमक परम्परा; भाषा, साहित्य और दर्शन की यूनानी परम्परा; तथा यूनानी आदर्श के अनुसार पहले ही ढल गई ईसाई परम्परा।"— 'द बाइज़ैन्शियमः ऐन इण्ट्रोडक्शन टु द ईस्ट रोमन ट्रैडीशन', सम्पादक एन. एच. बेन्स तथा एच. एस. बी. मॉस (१९४८), पृष्ठ २०।

दोनों ही दृष्टिकोण अंशतः ठीक हैं। प्राचीन नगर राज्य की पुरानी परम्परा—जिसके आदर्श थे नागरिकता की स्वाधीनता तथा स्वशासन—के स्थान पर एक पवित्र एकछत्र राज्य की स्थापना हुई और जनजीवन चर्च तथा पूजन-विधि में ही केन्द्रित हो गया। रूढ़िगत आस्था ने ही वास्तव में सामाजिक एकता स्थापित की और यूनानी नगरों के राजनीतिक जीवन से बिलकुल विपरीत साधु-जीवन का प्राधान्य हुआ; यह जीवन कुस्तुनतुनिया की संस्कृति का विशिष्ट अंग था।

करोगे।"[1] अपने 'त्रिमूर्ति' (ट्रिनिटी) के सिद्धान्त, सन्तों के सम्प्रदाय और 'ट्रिनिटी' के तीनों व्यक्तियों और सन्तों की मूर्ति-स्थापना के कारण ईसाईधर्म का आचरण स्पष्टत: 'ओल्ड टेस्टामेंट' के विपरीत है। अनेक परम्परावादी ईसाई-विचारक इस प्रतिकूलता से रुष्ट होकर मूर्तिभंजक बन गये। एल्वीरा की काउंसिल (३०० ईसवी) ने अपने छठवें नियम में गिरजों में चित्र प्रदर्शित करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यूसेबियस (२६४–३४० ईसवी) ने कॉन्स्टैंटाइन महान की बहिन कॉन्स्टैन्शिया की पवित्र मूर्ति बनाने से इनकार कर दिया। कॉन्स्टैन्शिया व साइप्रस नगरों के बिशप एपीफ़ैनियस (३१५–४०२ ईसवी) ने एक गिरजे में परदे को इसलिए फाड़ दिया चूंकि उसपर एक चित्र काढ़ा गया था। प्रमाण है कि अनेक शताब्दियों तक मूर्तिभंजन की लहर दौड़ती रही और अनेक लोगों ने एक नये धर्म की तैयारी शुरू कर दी, जो इस सम्बन्ध में यहूदी धर्म के आदेशों का पूर्णतया पालन करे।

इसके अतिरिक्त, पश्चिम में ईसाई धर्मानुयायी रूढ़िवादी विवादों में उलझने और गिबन के शब्दों में 'संस्थापक के नियमों के पालन से अधिक रुचि उनकी प्रकृति को समझने में लगाने लगे।'[2] ध्यान ईसाई धर्म से हटकर 'चर्चमैनशिप' पर चला गया। कुछ ईसाई अपने धर्म का प्रचार करने के स्थान पर संसार से विरक्त हो जाना चाहते थे। अन्य संसार में एक नैतिक व्यवस्था स्थापित करने के पक्षपाती थे। धर्म के सिद्धान्तपक्ष से अधिक क्रियापक्ष में विश्वास रखनेवाले लोग किसी नये धर्म की तलाश में थे।

सातवीं शताब्दी में उद्भूत इस्लाम की विशेषताएं थीं मौलिक एकेश्वरवाद तथा मानवीय भाईचारे पर ज़ोर। अल्लाह की वाणी अनेक पैगम्बरों द्वारा—जिस शृंखला में अंतिम और महानतम पैगम्बर मुहम्मद थे—मनुष्यों तक पहुंची है। धर्मपुस्तक 'कुरान' अल्लाह की सूक्तियों और उपदेशों का संकलन है। इसमें अल्लाह की—जिसकी आराधना के निमित्त प्रतिदिन नियमानुसार नमाज पढ़ी जाती है—इच्छा निहित है। इस्लाम में ईसाई धर्म की भांति एक 'परम व्यक्तिगत सत्य' के

---

१. 'एक्सोडस', XX. ४-५।

२. 'द डिक्लाइन ऐंड फ़ाल ऑफ़ रोमन एम्पायर', अध्याय ४७। अन्तियोख के अभिनायस मार्सेलिनस ने लिखा है : "सम्राट कॉन्स्टैंटियस द्वितीय के शासन के प्रारम्भ में ईसाई धर्म विशुद्ध एवं सरल था, किन्तु उसने अंधविश्वासों से उसे गडमड कर दिया। धर्म-सम्बन्धी तर्क-वितर्क में उसकी रुचि अधिक थी और अनुरूपता बनाये रखने के उत्तरदायित्व की भावना कम। फलत: अनेकानेक भिन्नताएं पैदा हुईं। विभिन्न रूखे शास्त्रार्थ आयोजित करके वह आग में घी डालता रहता था।" आर्नल्ड जे. टॉयनबी कृत 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री', खंड ७ (१९५४), पृष्ठ ६६ में उद्धृत 'रेस गेस्टी', खण्ड २१, अध्याय १६, विभाग १८।

दर्शन की बात मौजूद है तथा जूडावाद की भांति एक दृढ़ विश्वास कि अल्लाह मनुष्य से अलग है। इस्लाम को ईसा का देवत्व स्वीकार नहीं। मुहम्मद यद्यपि सामान्य मनुष्य का बेटा ही रहना चाहते थे, फिर भी बाद के जीवनी-लेखकों ने उन्हें 'ईश्वरीय ज्ञान का अवतार'[1] ही कहा है।

अल्लाह के साहचर्य की आवश्यकता मालूम पड़ने पर इस्लाम ने ईसा के सलीब पर चढ़ाये जाने का समकक्ष उदाहरण भी अली, हसन और हुसेन की शहादत में ढूंढ़ निकाला तथा यही मानव योद्धा शियाओं द्वारा देवत्व के अवतार बना दिये गये। अल्लाह की मरज़ी मानना सबसे बड़ा कर्तव्य है और उसकी मरज़ी के आगे झुक जानेवाले मुसलमान हैं जिनको इस्लाम का प्रचार करना और दूसरों को मुसलमान बनाना चाहिए। यही जेहाद का औचित्य है। मुहम्मद (आज के संसार की दृष्टि में) गलतियों अथवा अपराधों के ज़िम्मेदार हैं, किन्तु ये कृत्य वास्तव में उस सामाजिक परिवेश के परिणाम हैं जिसमें मुहम्मद रहते थे और इनके लिए उनकी व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी नहीं है। वे कई मायनों में अपने समाज से श्रेष्ठ होते हुए भी उसी समाज की ही सन्तान थे। अपने समय में, अरब मूर्तिपूजकों और हेलेनीय ईसाई धर्म में प्रचलित अनेकेश्वरवाद तथा मूर्तिपूजा से उनका वास्ता न था।

धर्मशास्त्रियों के व्यर्थ तर्क-वितर्कों, और 'ट्रिनिटी' के सदस्यों में प्राथमिकता प्राप्त करने के साम्प्रदायिक झगड़ों से अनेक लोग इतने क्षुब्ध थे कि उन्होंने सहर्ष सातवीं शताब्दी के अरब विजेताओं का स्वागत किया। नेस्टोरिया के एक इतिहासकार ने लिखा : "अरब की सत्ता-स्थापना से ईसाइयों के दिल बल्लियों उछलने लगे—ईश्वर इस सत्ता को सुदृढ़ और समुन्नत करे।" अपेक्षाकृत कम समय में, इस्लाम ने लम्बे-चौड़े क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिए। अधिकृत क्षेत्रों में कुस्तुनतुनिया साम्राज्य के कुछ भूमध्यसागरीय सूबे भी शामिल थे। ईसाई धर्म का प्रथम विरोधी विजेता धर्म इस प्रकार इस्लाम ही हुआ।[2]

---

१. डॉक्टर हरग्रांज का कथन है : "मुसलमान अपनी परम्परा के अनुसार यहूदियों और ईसाइयों की निन्दा करते थे क्योंकि वे अपने पैगम्बरों के पूजागृहों में पूजा करते थे। इसलिए मुसलमान समाज में अनेक पीर-फ़कीरों की उपस्थिति आवश्यक हो गई। लगभग हर मुसलमान गांव का एक संरक्षक पीर, हर देश का एक राष्ट्रीय पीर होता है और मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक होते हैं। वे सब ईश्वर और नश्वर मानव के मध्यस्थ हैं।"—'मुहम्मडनिज़्म' (१९१६), पृष्ठ ८५।

२. दमिश्क के जॉन इस्लाम को एक ऐसा धर्म समझते थे जिसकी प्रवृत्ति पुराने धर्मों के लगभग अनुरूप थी। देखिए, हेनरी पिरेन कृत 'मुहम्मड ऐंड शार्लमेन' (१९५४), पृष्ठ १४८ (जॉर्ज एलेन ऐंड अनविन)।

सन् ६७२ में फ़ातिमी विजेता जौहर ने अज़हर मस्जिद की स्थापना की। यह विश्व के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी। धर्म और कानून की शिक्षा ग्रहण करने के लिए आज भी संसार के कोने-कोने से विद्यार्थी यहां आते हैं। धर्मशास्त्रीय शिक्षाकेन्द्रों में अरस्तू के दर्शन का और अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाने लगा, क्योंकि वह ईसाई सिद्धान्तों के विरुद्ध मालूम पड़ता था।

बुख़ारा के समीप सन् ६८० ईसवी में जनमे अबू अली हुसेन इब्न सीना (जिन्हें लैटिन भाषा में 'अविसेन्ना' कहा जाता था) का पूर्व और पश्चिम दोनों पर विशद प्रभाव पड़ा था। गिल्सन और गैकोन का मत है कि पश्चिमी धर्माधिकारियों, विशेषतः टॉमस एक्विनास और डन्स स्कोटस, पर उनका गंभीर प्रभाव है। रॉजर बेकन ने उनकी बड़ी प्रशंसा की है। उनका दर्शन आकार, वस्तु तथा उद्देश्य में क्रमशः अरस्तू, प्लेटो और नवप्लेटोवाद के दर्शन के समान था। उनके विचार से नवप्लेटोवाद में प्लेटो, अरस्तू तथा पूर्वीय विचारों का सम्मिश्रण था। इविसीना ने स्वयं अनेक विरोधी तत्त्वों को मिलाकर एक किया और इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तों के अनुसार उनका एक मधुर सामञ्जस्य स्थापित किया।

बारहवीं शताब्दी के सर्वोत्कृष्ट मुसलमान विचारक थे कॉरडोवा के ख़लीफ़ा के हकीम अवेरोज़ (११२६–११६८)। उन्होंने अरस्तू पर विशद टीकाएं लिखीं। अरस्तू से ही उन्होंने मानव-आत्मा की अपूर्वता का सिद्धान्त ग्रहण किया। अवेरोज़ के अनुसार, मानव के सभी प्रयत्नों का फल 'मिला हुआ है और अवश्य मिलता है।' यथार्थीकरण हमारे विवेक की समझ से बाहर है, किन्तु उसकी भी प्राप्ति समय की सीमाओं—जिनसे हम बंधे हैं और जो हमारी सामान्य विचार-पद्धति की जन्मदात्री हैं—से परे 'अभी और सदा' हो जाती है। किसी विशेष समय और सदा यथार्थ ब्रह्मांड का पूर्ण आनन्द समय के उस पैमाने के अनुसार नहीं हो सकता जिससे हम परिचित हैं। हमारी विचारने की दिशा समय के उस पैमाने के साथ-साथ चलती है, इसलिए इस भिन्न दृष्टिकोण को समझना कठिन है। किन्तु, अवेरोज़ के अनुसार, हम इस दूसरी दिशा को खोजने और समझने के बाद ही आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं। इसका अर्थ मात्र यही है कि हमें समय के प्रति दूसरे दृष्टिकोण से सोचना चाहिए।

३. ईसाइयों के धर्मयुद्ध

जब इस्लाम पश्चिम में फैल गया, और एशिया माइनर पर तुर्कों का आधिपत्य हो गया और ईसाई साम्राज्य की पूर्वीय राजधानी खतरे में पड़ गई, तब धर्माधिकारियों ('होली सी') ने एक प्रत्याक्रमण को प्रोत्साहन दिया, जिसका

उद्देश्य था स्वयं चर्च की एकता को पुनःस्थापित करना जो कुस्तुनतुनिया के मतभेदों के कारण १०५४ में नष्ट हो चुकी थी। तुर्कों का आतंक ईसाई संसार पर बढ़ता जा रहा था और फिलिस्तीन पर साम्प्रदायिक हिंसात्मक कार्यों की कहानियां खूब फैल रही थीं। इन दोनों ने बढ़ावा दिया कि ये कृत्य रोके जायं। ईसाइयों के लिए यरूशलम वह पवित्र नगर था, जहां ईसा ने उपदेश दिये, उन्हें क्रॉस पर चढ़ाया और दफनाया गया। उनकी भावना थी कि उस भूमि पर उनका अधिकार किसी यरूशलम-वासी से कम न था क्योंकि उनके त्राणकर्ता ने अपने लोहू से उसे पवित्र किया था। उनका विचार था कि 'लॉर्ड' की कब्र को दूषित करनेवाले और उनके अनुयायियों को घृणा करनेवाले मुसलमान पीड़कों से अपनी विरासत की रक्षा करना उनका कर्तव्य है। रोमन कैथलिक चर्च और ग्रीक ऑर्थोडॉक्स चर्च दोनों ही तुर्कों को पराजित करने के प्रयत्न में एक हो गए। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में धर्मयुद्धों (क्रूसेड्स) का आरम्भ हुआ।[1] पहला धर्मयुद्ध १०९७ से १०९९ तक जारी रहा। इसके फलस्वरूप यरूशलम को सेल्जुक तुर्कों के आधिपत्य से मुक्त तो कर लिया गया किन्तु ईसाई उसपर अपना अधिकार रख न सके। सन् ११४४ ईसवी में तुर्कों ने एडेसा पर पुनः अधिकार कर लिया। इसपर यूरोप के राजाओं को नये धर्मयुद्ध का आवाहन ११४६ ईसवी में किया गया। फ्रेंच सम्राट कॉनरैड तृतीय तथा लुई सप्तम के नेतृत्व में, लातीनियों के भाग्य को बदलने के लिए दूसरे धर्मयुद्ध का आयोजन हुआ। यह धर्मयुद्ध क्लेयरवां के सेंट बर्नार्ड (१०९०–११५३ ईसवी) की प्रेरणा से हुआ था। अनेक विपत्तियों के पश्चात् ११४८ ईसवी में इसका अन्त हुआ।

तुर्की साम्राज्य साइरेनेका से लेकर ईराक के दक्षिण-पश्चिम तक फैला था, और बगदाद के खलीफा अब्बासिद के नाममात्र के प्रभुत्व में सलादीन सारे साम्राज्य का शासक था। उसने निकटपूर्व के लातीनी उपनिवेशों पर आक्रमण शुरू किये और ११८७ ईसवी में यरूशलम पर अधिकार कर लिया। इसपर एक नये धर्मयुद्ध का आरम्भ हुआ, जिसमें सम्राट फ्रेडरिक बारबरोसा तथा इंग्लैंड और फ्रांस के बादशाह सम्मिलित थे। बारबरोसा कभी भी फ़िलिस्तीन नहीं पहुंच सका; किन्तु फ़िलिप ऑगस्टस और रिचर्ड कोएर द लॉयन ने ११९१ ईसवी में फ़िलिस्तीन के तटवर्ती नगर आक्रे पर अधिकार कर लिया। यरूशलम मुसलमानों के अधिकार में ही रहा। सलादीन ने सीरिया और मिस्र के तटों पर मुसलमानों का आधिपत्य

---

१. 'क्रूसेड' शब्द का उद्गम है लैटिन शब्द 'क्रक्स', जिसका अर्थ है 'क्रॉस'। ईसाई धर्म का प्रतीक है 'क्रॉस' तथा इस्लाम का 'दूज का चांद'।

स्थापित किया।

सन् ११९८ ईसवी में पोप इनोसेंट तृतीय गद्दीनशीन हुए और उन्होंने नास्तिकों के हाथों से 'पवित्र भूमि' को स्वतंत्र करने के उद्देश्य से एक धर्मयुद्ध का निश्चय किया। उनका युद्ध असफल हुआ; हाँ, साम्राज्य के व्यापार के स्वामी वेनिसवासी अवश्य बन बैठे।

सन् १२२८-२९ में, फ्रेडरिक द्वितीय ने, जिन्हें १२२० में सम्राट अभिषिक्त किया गया, 'पवित्र भूमि' के लिए पुनः धर्मयुद्ध प्रारम्भ किया और अनेक भूभागों तथा अन्य लाभों सहित 'पवित्र नगर' को पुनः ईसाइयों के अधिकार में ले आये। उन्होंने यरूशलम के बादशाह की पदवी ग्रहण की। १२२४ में यरूशलम फिर हाथ से जाता रहा। फ्रांस के सम्राट लुई नवम ने पहले के धर्मयुद्धों की ईसाई आत्मा को पुनर्जागरित किया और (१२४८–१२५४) एक नये धर्मयुद्ध का आयोजन किया, किन्तु वे अपने प्रयत्न में असफल रहे। १२७० में अंग्रेज़ प्रिंस एडवर्ड ने एक और धर्मयुद्ध में भाग लिया। इस प्रयत्न के बाद धर्मयुद्ध आन्दोलन का तेज़ी से ह्रास हुआ।

ईसाई धर्म और इस्लाम के शताब्दियों लम्बे संघर्ष को गिबन ने 'संसार का वादविवाद' कहा है। धर्मयुद्ध आन्दोलन का उद्देश्य था इस्लाम तथा एक अन्य एशियाई आक्रमण से ईसाई धर्म की रक्षा करना। इन दोनों ने ४०० वर्षों तक योरोपीय लोगों को घबराहट में रखा और मानने पर मजबूर किया कि उनका समाज धार्मिक आधार पर खड़ा है। किन्तु धर्मयुद्धों ने रोम के पोपों को राष्ट्रोत्तर नेतृत्व स्थापित करने का अवसर प्रदान किया। उनके कारण भयानक विनाश हुआ और रक्त की नदियां बहीं। 'क्रॉस' के नाम पर, धर्मयुद्धों ने यूरोप की पूर्वीय सुदृढ़ता को समाप्त कर दिया और अपने पीछे घृणा और तिक्तता की विरासत छोड़ी।

ईसाई धर्मयुद्धों का आयोजन हुआ था पूर्वीय ईसाई साम्राज्य को मुसलमानों के शासन से त्राण दिलाने के लिए, किन्तु उनकी समाप्ति पर सम्पूर्ण पूर्वीय ईसाई साम्राज्य पर मुसलमानों का शासन स्थापित हो गया। "इतिहास के दृष्टिकोण से देखा जाय तो सम्पूर्ण ईसाई धर्मयुद्ध-आन्दोलन एक विशाल विशिष्ट असफलता मात्र था।"[1] अपने प्रारम्भिक दिनों में इस्लाम असहिष्णु न था। उसने स्वीकार किया था कि यहूदियों और ईसाइयों को देववाणी का कुछ अंश प्राप्त हुआ था। "ईसाई धर्मयोद्धाओं की क्रूर असहिष्णुता के उत्तर में मुसलमानों में भी असहिष्णुता बढ़ने लगी।"[2]

---

१. स्टीवेन रंसीमान : 'ए हिस्ट्री ऑफ़ द 'क्रूसेड्स', खण्ड ८, (१९५४), पृष्ठ ४६८।
२. वही, पृष्ठ ४७४।

इस्लाम के भय तथा लातीनी और फ्रैंकी मित्रराष्ट्रों के अतिक्रमणों के बीच फंसकर कुस्तुनतुनिया साम्राज्यवासी फिर अपनी यूनानी विरासत पर वापस लौट गये और सांस्कृतिक स्वराज्य का दावा करने लगे। इस्लाम का कट्टर एकेश्वरवाद उन्हें लैटिन चर्च के अनेकेश्वरवादी उपदेशों—जो रोम के अधीन अर्ध-बर्बर जातियों की रुचि के अनुकूल थे—से कम हानिकारक धर्म मालूम पड़ने लगा।[1]

इस्लाम पर भी साम्प्रदायिक झगड़ों का कुप्रभाव पड़ा। शिया सम्प्रदाय की मान्यता थी कि मुसलमानों के पापों के निवारणार्थ हुसेन ने जीवन-भर कार्य किया और स्वयं अपनी बलि दी। उन्होंने हुसेन को बहुत ऊंचा दर्जा दिया। कर्बला की विनाशकारी यात्रा पर रवाना होने से पहले, मुहम्मद की कब्र के पास खड़े होकर हुसेन कहता है : "मैं स्वयं तुम्हारे अनुयायियों के लिए अपनी बलि देने जा रहा हूं, इसलिए मैं उन्हें भूल कैसे सकता हूं ?" इस्लाम के अपने सम्प्रदाय को उच्चतर तथा परम्परागत सम्प्रदाय, 'सुन्नाह', माननेवाले बहुसंख्यक मुसलमानों तथा दूसरे सम्प्रदाय, शिया, के अल्पसंख्यक अनुयायियों के बीच संघर्षों में हिंसा और क्रूरता का अपूर्व प्रदर्शन हुआ। भेदभाव पैदा करनेवाले व्यक्तियों के प्रति हमारे मन में जितनी सहिष्णता है उससे कहीं अधिक नास्तिकों के प्रति है।

४. पांडित्यवाद

अरब सभ्यता दसवीं शताब्दी में, स्पेन में अपने शीर्ष पर थी और वहां का कॉरडोवा विश्वविद्यालय मुसलमान ज्ञान का महान केन्द्र था। यूरोप के ईसाइयों ने अरबों के कला और विज्ञान, गणित और भूगोल, औषधशास्त्र और रसायन, जीवविज्ञान और लेखा से बहुत कुछ ग्रहण किया। अरस्तू की परम्परा का ईसाई सिद्धान्त से सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न किए गए। प्रारम्भिक पांडित्यवाद अनिवार्यतः फ्रेंच था उसके मुख्य स्तम्भ थे सेंट अन्सेल्म (१०३३–११०९ ईसवी) तथा क्लेयरवॉ के अबेलार्द और बर्नार्ड। विचारकों का ध्यान तर्कविद्या के संकीर्ण क्षेत्र तक ही सीमित न रहा, यद्यपि धर्मशास्त्रों और सिद्धांतों की व्याख्या में तर्क-विद्या का उपयोग निरन्तर होता रहा। अबेलार्द (बारहवीं शताब्दी) ने धार्मिक

१. २९ मई, १४५३ को कुस्तुनतुनिया के पतन से कुछ पूर्व एक प्रमुख कुस्तुनतुनियावासी ने घोषणा की थी : "मैं चाहता हूं कि यूनानी परम्परावादी चर्च मुकुट के स्थान पर पैगम्बर के साफे की अधीनता में आ जाय; क्योंकि तुर्क यूनानी ईसाई धर्म के प्रति अधिक सहिष्णु हैं।" पश्चिम का दृष्टिकोण पेट्रार्क के शब्दों में स्पष्ट व्यक्त है : "तुर्क निस्संदेह शत्रु हैं, किन्तु भेदभाव पैदा करनेवाले यूनानी शत्रुओं से बदतर हैं।"—'टाइम ऐंड टाइड', २५ जुलाई, १९५३। पैट्रिक ली फ़र्मर द्वारा 'सैड क्विंसेंटेनरी' पर निबन्ध, पृष्ठ ९८५।

क्षेत्र में तर्क से अधिक महत्त्व सत्ता को देना स्वीकार किया। संट बर्नार्ड को स्वतंत्र विचारों से भय था। उनके मत में अबेलार्द के विचार धर्म के लिए घातक थे, इसलिए वे उन विचारों के विरोधी थे। उनकी ज़िद से सियेना की काउंसिल ने अबेलार्द के अनेक सिद्धान्तों को धर्मविरोधी मानकर उनकी भर्त्सना की।

तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में पांडित्यवाद के अगले चरण के प्रतिनिधि थे अलबर्टस मैगनस, रॉजर बेकन (१२१४–१२९४), टॉमस एक्विनास, बोनावेण्ट्-यूरा, और डन्स स्कोटस। अलबर्टस मैगनस (१२०६–१२८०) और टॉमस एक्विनास (१२२६–१२७४) ने देखा कि तेरहवीं शताब्दी के सभी अच्छे विचारक यूनानी दर्शन तथा मुसलमानी केन्द्रों, जहां अरस्तू विशेष अध्ययन का विषय था, की ओर आकर्षित थे, तो ईसाई धर्म में भी उन्हें सम्मिलित करने का प्रयत्न किया और मध्ययुगीन सिद्धान्तों में अरस्तू को सम्मिलित कर लिया। अपने समय में उनका दृष्टिकोण आधुनिकतावादी था और उन्होंने ईसाई सिद्धान्तों में नये प्राण फूंक दिये। दुर्भाग्यवश नई प्रवृत्तियां पुनः असफल रहीं। कैथलिक चर्च के अधिकृत दर्शन का निर्माण इसी युग में हुआ। इसके बाद हुए ओकम के विलियम (१३००–१३४९) तथा जर्मन अध्यात्मवादी एकहार्ट (१२६०–१३२७), टॉलर और सूसो (१३००–१३६६)।

मध्ययुगीन दर्शन का विकास वैज्ञानिक निष्क्रियता के युग में हुआ। कुछ सफल वैज्ञानिक खोजें मध्ययुग में अवश्य हुई और भौतिकी व रसायन का उपयोग यन्त्र-विज्ञान में किया गया—उदाहरणतः, कुतुबनुमा और बारूद—फिर भी सामान्य दृष्टिकोण से धर्मशास्त्र के बाद ही विज्ञान आता था। मध्ययुग की बाद की शताब्दियों का दृष्टिकोण अनिवार्यतः धार्मिक था। इस युग में, ईसाई धर्म में आन्तरिक एकता थी, कला का सृजन व सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का निर्माण हो रहा था जो भविष्य में बहुत समय तक जीवित रहने को थीं।[1] यूरोपीय विचारक शताब्दियों तक अतीत में ही डूबे रहे और महसूस करते रहे कि सम्पूर्ण संभव ज्ञान अतीत में ही निहित है। मध्ययुगीन बौद्धिक उपलब्धि का आधार था मानवीय विचारों का पुनःस्थापन।

५. पुनर्जागरण

'पुनर्जागरण' शब्द का प्रयोग बारहवीं शताब्दी के यूरोप के संदर्भ में किया

---

१. देखिए, आर. डब्ल्यू. सदर्न कृत 'द मेकिंग ऑफ़ द मिडिल एजेज़' (१९५३) पृष्ठ ३१।

जाता है, जब बौद्धिक सक्रियता ज़ोरों पर थी,लोगों में ज्ञानार्जन की उत्कट भूख थी और थी यूनानी और रोमक संसार के दर्शन से सीधे साक्षात्कार करने की विशेष लालसा। अरब और कुस्तुनतुनिया के स्रोतों द्वारा पश्चिमी मस्तिष्क का निकट संपर्क यूनानी विज्ञान और दर्शन के साथ स्थापित हो सका था। भूमध्यसागरीय प्रदेशों, स्पेन, सिसिली, कुस्तुनतुनिया तथा फिलिस्तीन तक पश्चिमी साम्राज्य की सीमा के विस्तार के कारण, पश्चिम पर उन प्रदेशों का अमित बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा; फलस्वरूप पश्चिमी संसार में काफी परिवर्तन हुआ। इन सबसे यूरोप को एक नई दुनिया और नये मूल्यों का अहसास हुआ। यूरोप ने यूनानियों के बौद्धिक दुस्साहस तथा अन्वेषण की प्रवृत्ति को पुनः प्राप्त कर लिया। यद्यपि दृष्टि-कोण अनिवार्यतः धार्मिक था, फिर भी संस्कृति का प्रस्फुटन कालेजों और गिरजों, महान पुस्तकों, और महान विचारकों में हुआ। आन्दोलन को काफी हद तक बढ़ावा चर्च से ही मिला। मध्ययुगीन धर्म-शास्त्रियों ने प्रकृत और प्रकट धर्म में अन्तर बताया और इस प्रकार प्रकृति के अध्ययन में तर्क के प्रयोग की संभावना को जन्म दिया; परिणामस्वरूप उन्होंने ही वैज्ञानिक विकास में भी योग दिया। पुनर्जागरण के मुख्य परिणाम थे मानववाद, प्राकृतिक विज्ञानों का उदय, नई दुनिया की खोज और धर्म-सुधार।

तेरहवीं शताब्दी में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। बारहवीं शताब्दी में ही कानून के स्कूलों का आरंभ हो गया था, अब उस दिशा में बोलोना एक नया चरण था। पेरिस उदार कलाओं और धर्मशास्त्र से अलग हो गया। विश्वविद्यालय हर दशा में धार्मिक नियंत्रण से अपनी स्वतंत्रता बचाये रखने को उत्सुक थे।

ज्ञान की पुनःप्राप्ति का आरंभ इटली में हुआ और शीघ्र ही पश्चिमी यूरोप के अन्य भागों में फैल गया। टॉमस एक्विनास नेपिल्स विश्वविद्यालय में प्रोफेसर और अरस्तू पर एक पुस्तक के रचयिता थे। दांते (१२६५–१३६१) पादरी न थे, फिर भी उन्होंने अपनी महान कविता 'द डिवाइन कॉमेडी' में धार्मिक समस्याओं को उठाया। यह सुखान्त है, इसीलिए 'कॉमेडी' है। स्वाधीनता की राह पाप और प्रायश्चित के निम्न संसार से होकर ही जाती है।

ग्यारहवीं शताब्दी में संसार को एक नया स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया जा रहा था जो ईश्वर की इच्छा के अनुकूल समझा जाता था; यूनानी मानववाद ने इस प्रयत्न को बढ़ावा दिया। यह विचार कि ईश्वर का साम्राज्य इस पृथ्वी पर नहीं है, त्याग दिया गया और शताब्दियों तक विश्व का कायाकल्प करने का दृढ़ निश्चय कायम रहा, जिसने तदनन्तर ज्ञान के प्रकाश के लिए मानव-मस्तिष्क को तैयार किया। इससे धर्म और समाज-सुधार के अर्थ आपस में गडमड हो गये, फलतः

ध्यात्मिकता क्षीण हो गई। दूसरी ओर, पूर्वीय यूरोप का ईसाई धर्म पारलौ-कता और आध्यात्मिकता, पर ज़ोर देता था, किन्तु उसका सामाजिक चरित्र श्चिम के लैटिन ईसाई धर्म के सामाजिक चरित्र से कहीं अधिक कमज़ोर था।

पेट्रार्क (१३०४–१३७४) और उनके शिष्य जीवन के प्रति मानववादी दृष्टि-ोण के हामी थे। इस दृष्टिकोण का उद्देश्य था मानव की शक्तियों का विकास और ारीरिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक पूर्णताप्राप्त आदर्श मानव की सिद्धि। मानव-ादी ईसाई धर्म के विरोधी नहीं थे, किन्तु उसकी रूढ़ियों और साम्प्रदायिकता कठोर आलोचक थे। वे व्यक्ति के अधिकारों तथा स्वतंत्र, निर्भय तर्कपद्धति र ज़ोर देते थे तथा धर्माचरण के फलस्वरूप मिलनेवाले आराम की तुलना में तर्क ी निश्चितता को अधिक महत्त्व देते थे। इरास्मस पादरी होते हुए भी चर्च के ीवन से असन्तुष्ट थे।

साम्राज्यशाही और पोप के नियंत्रण से इटली की मुक्ति के पश्चात् दांते और ट्रार्क हुए थे। आरिस्तो और तासो (पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में) के द्भव के समय इटली ने स्पेनी शक्ति की अधीनता मान ली थी। निकोलो मैकि-ावेली ने राजनीतिक सफलता प्राप्त करने की कला पर एक पुस्तिका 'प्रिंस' १५१३) लिखी। इस पुस्तक में न्याय अथवा दया का कोई स्थान नहीं है, फिर ी विदेशी शासन से मुक्त एक संयुक्त इटली का स्वप्न अवश्य देखा गया है। यूनानी ाहित्य के अध्ययन का पुनः आरम्भ हुआ, जिससे यूनानी कला के प्रति नई रुचि ागी। महान चित्रकारों में प्रथम था गियातो, जो १२७६ में फ़्लोरेंस के समीप क गांव में पैदा हुआ था। उसके पश्चात् कई महान चित्रकार हुए, यथा बॉटिसेली (१४४४–१५१०), लियोनार्दो दा विंची (१४५२–१५१९), माइकेलांजेलो (१४७५–१५६४), तीत्यां (१४७७–१५७६) और राफ़ेल (१४८३–१५२०)। उत्तरमध्ययुग अपने स्थापत्य के लिए भी इतिहास में प्रसिद्ध है।

पहले पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं। अब मुद्रणयंत्र जैसे वैज्ञानिक आवि-ष्कार हुए, जिनसे ज्ञान के प्रसार में निश्चित योग मिला। मुद्रित पुस्तकों से ज्ञान का प्रसार हुआ, जिसने एक नवीन तार्किक प्रवृत्ति को जन्म दिया। यही प्रवृत्ति अधिकांशतः सोलहवीं शताब्दी के प्रोटेस्टैंट धार्मिक सुधार के लिए उत्तरदायी थी।

६. धार्मिक सुधार

पोप-नीति ईसाई धर्मावलम्बियों से अधिक से अधिक धन मांगती थी। ऐसा या तो चर्चों पर कर लगाकर या चर्च के अधिकारियों की नियुक्ति तथा प्रत्येक नियुक्ति के समय चन्दा एकत्र करके किया जाता था। इस पोप-नीति ने बहुसंख्यक

लोगों में असन्तोष फला दिया। चर्च के उपदेश।, विधियों और नीतियों के प्रति भी धार्मिक अशान्ति और असन्तोष के लक्षण स्पष्ट थे। चर्च के अधिकारियों द्वारा निन्दित सिद्धान्त फैलने लगे। चौदहवीं शताब्दी के सातवें दशक में जॉन वाइक्लिफ़ ने पोप की शक्ति, पादरियों की प्रभुता, परिवर्तन, स्वीकृति एवं अनुग्रह का विरोध किया। उन्होंने हरफ़ोर्ड के निकोलस और जॉन पर्वी की सहायता से 'बाइबिल' का अनुवाद अंग्रेज़ी में किया। सन् १३८४ में जॉन वाइक्लिफ़ की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों को दंडित किया गया, किन्तु उनके विचार जीवित रहे और उन विचारों ने ही सोलहवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी धार्मिक सुधार की आधारभूमि प्रस्तुत की।

चेकोस्लोवाकिया के एक धर्मशास्त्री जॉन हस पर वाइक्लिफ़ का काफी प्रभाव था। उन्होंने भी पोप की कर लगाने की नीति, सम्पत्ति के प्रति चर्च की लालसा, पादरियों की प्रभुता और अनुग्रह का विरोध किया। उन्होंने परिवर्तन-सिद्धान्त का विरोध नहीं किया, किन्तु धर्म-पालन में अधिक आध्यात्मिक गहराई की मांग की। उनकी शिक्षाएं जनप्रिय थीं, लेकिन कॉन्स्टैंस की काउन्सिल के सामने उन्हें पेश करके दंड का भागी समझा गया और सन् १४१५ में जला दिया गया।

मुद्रणकला के आविष्कार के पश्चात् बाइबिल का मुद्रण हुआ और हज़ारों पाठक उसे पढ़कर उसके विभिन्न विषयों से अलग-अलग निष्कर्ष निकालने लगे। सत्यनिष्ठ और सहजबुद्धियुक्त विद्वानों ने आलोचनात्मक दृष्टिकोण से बाइबिल का अध्ययन किया। लूथर के नेतृत्व में एक आन्दोलन चला, जिसकी घोषणा थी कि मानव अपने कार्यों से नहीं अपितु धर्म से ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, कि सभी धर्मात्मा पुजारी हैं, कि पुजारियों को विवाह की आज्ञा मिलनी चाहिए, कि निजी प्रार्थना सभाओं का अन्त होना चाहिए, कि पोप वस्तुतः ईसाई धर्म-विरोधी है। लूथर सम्पूर्ण लैटिन विरासत को परमात्मा का शाप मानते थे। उनके अनुसार इस विरासत का अर्थ था सांसारिकता और भ्रष्टाचार। लूथर के मत में कार्यों का महत्त्व न था। कार्य मोक्ष के परिणाम तो हो सकते हैं, उसके मापदंड नहीं। मोक्ष का सरल अर्थ है आत्मा को परमात्मा में लय कर देना। धर्म-विरोधी कहकर लूथर की भर्त्सना की जाती रही, और वे पोपों को बैल बनाकर जलाते रहे। लूथर के आन्दोलन ने राष्ट्रीय भावना को बढ़ाया। स्वीडेन, डेनमार्क तथा यूरोप के अन्य भाग। में राष्ट्रीय चर्च स्थापित हुए। वे स्वयं को राष्ट्रीय चर्च संस्था का अंग समझते थे, 'विश्व चर्च' का अंग नहीं।[1]

१. "सोलहवीं शताब्दी में यूरोप का महान राजनीतिक और सैनिक पुनर्गठन हुआ। यूनानियों और रोमकों के प्रति यूरोप का प्रेम भी उतना ही पुराना है। यूरोपवासी हर बात में—कला

जॉन कैल्विन जिस आदर्श चर्च की कल्पना करते थे, उसे मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने जेनेवा के छोटे-से नगर-राज्य में एक चर्च की स्थापना की। १५३६ में प्रकाशित अपनी कृति 'इन्स्टीट्यूटिओ क्रिश्चियानी रेलीजियोनिस' में उन्होंने प्रोटेस्टैंट सिद्धान्त की व्याख्या की और चर्च सरकार की रूपरेखा प्रस्तुत की। कैल्विन का मत था कि मध्ययुग अज्ञान का युग था और पोप लिओ प्रथम, ग्रेगरी महान तथा सेंट बर्नार्ड जिन सिद्धान्तों के प्रतिपालक थे वे सिद्धान्त सच्चे धर्म के दूषित परिवेश थे। उन्होंने एक नई प्रकार की आधिकारिकता को जन्म दिया कि इंजीलों में व्यक्त सिद्धान्त निश्चित और अन्तिम हैं। धार्मिक सिद्धान्तों की पवित्रता को वैज्ञानिक उत्सुकता अथवा नवीन ज्ञान से दूषित नहीं किया जाना चाहिए। उनके अनुयायियों को भाग्यवाद—अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के लिए पूर्वनिश्चित है कि उसे मोक्ष प्राप्त होगा या शाश्वत यंत्रणा—मान्य था।

पेरिस विश्वविद्यालय में कैल्विन के समकालीनों में एक अपंग स्पेनी अफसर, इग्नाटियस लोयोला थे। उन्होंने धर्म का बाना पहन लिया और इस प्रकार स्पेनी सेना का जोश और अनुशासन चर्च की सहायतार्थ प्रस्तुत किया। उनकी पुस्तक 'स्पिरिचुअल एक्सरसाइज़ेज़' लोगों के विवेक को विश्वास दिलानेवाली पुस्तक नहीं थी, उसका उद्देश्य तो लोगों को आज्ञाकारिता और सहनशीलता सिखाना था। उन्होंने १५४० ईसवी में 'सोसायटी ऑफ़ जीसस' की स्थापना की। उस समय से लेकर आज तक ईसाई धर्म चर्चों और सम्प्रदायों में बंटा हुआ है। वे सभी अपने सिद्धान्तों की व्याख्या और उनकी रक्षा के लिए संघर्ष करते हैं।

पुनर्जागरण के धर्मनिरपेक्ष मानववादी दृष्टिकोण पर शीघ्र ही धार्मिक-सुधार-सम्बन्धी तथा धार्मिक-सुधार-विरोधी आन्दोलन की रुचियों और धारणाओं का प्राधान्य हो गया। ये नवीन गतिविधियां—क्रान्तिकारिणी अथवा रूढ़िवादी—भी धार्मिक ही थीं। धार्मिक सुधार के कारण विश्व के प्रति सचाई और राष्ट्रीयता की भावना का ह्रास हुआ, और इसका असर सम्पूर्ण संसार पर पड़ा।

के उन क्षेत्रों में भी जिनमें मध्ययुग उनसे आगे बढ़ गया था—उनकी प्रशंसा करते थे। कारण यूनान और रोम ने ही यूरोप को सिखाया था कि सेना का संगठन कैसे करना चाहिए, युद्ध कैसे लड़ने चाहिए और विशाल राज्य कैसे निर्मित करने चाहिए।'' जी. फेरेरो : 'पीस ऐंड वार', अंग्रेज़ी अनुवाद (१९३३), पृष्ठ १९४। 'फेथ ऐंड फ्रीडम' (१९५४) में मिस बारबरा वार्ड ने लिखा है : ''सोलहवीं शताब्दी में यूरोप के महान परिवर्तन को यदि एक वाक्य में व्यक्त करने को कहा जाय तो यही कहना होगा कि यूरोपीय समाज की राष्ट्रीयता, आर्थिक शक्ति, विदेशी व्यापार, खोज आदि अनेक दिशाओं में विशाल वृद्धि हुई और साथ-साथ धार्मिक सत्ता—जिसका कार्य था सामाजिक जीवन की अनगढ़ शक्तियों को एक व्यवस्थित संस्कृति का रूप देना—अत्यधिक क्षीण होकर बिखरने लगी।''

७. आधुनिक विज्ञान

भारत और चीन में, प्राचीन और मध्य कालों में, वैज्ञानिक सिद्धान्तों और विधियों को समझा तो अवश्य जाता था,[1] किन्तु उनका विकास उन देशों में नहीं हुआ और आधुनिक पश्चिमी संसार में गैलीलियो, हार्वी, वेसालियस, गेसनर, न्यूटन तथा अन्य वैज्ञानिकों के आविर्भाव के पश्चात् हो सका। ईसा सन् की पहली चौदह शताब्दियों में यूरोप इस क्षेत्र में चीन और भारत से आगे था, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

आधुनिक विज्ञान की परम्पराएं प्राचीन और मध्ययुगीन यूरोप की सामान्य प्रवृत्ति के प्रतिकूल न थीं। यूनान के विज्ञान को प्रायोगिक आधार प्राप्त न था किन्तु था वह विज्ञान ही। उदाहरणतः, अरस्तू का दृढ़ मत था कि धैर्यपूर्वक, सचेत निरीक्षणों के आधार पर ही परिणाम निकले जा सकते हैं। ल्यूक्रेटियस द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मांड का सिद्धान्त वास्तव में गैसेण्डी जैसे आधुनिक विचारकों का पूर्वाभास था। मध्ययुगीन कीमियागरी और खगोल भी वस्तुओं की प्रकृति को समझने के प्रयास थे। आधुनिक मस्तिष्क का दावा था कि वह मध्ययुगीन शिक्षालयों में प्रचलित अरस्तूवाद की नियमाबद्ध और भेदमूलक प्रकृति से मुक्त है, किन्तु उन शिक्षालयों ने भी, अरस्तू की मान्यतानुसार, विज्ञान की सच्ची प्रकृति को प्राप्त किया। पांडित्यवाद के फलस्वरूप सम्पूर्ण यथार्थ का तर्कसंगत विवेचन हुआ। इससे तर्कयुक्त विचार-प्रणाली और पक्षपातहीन अध्ययन को बढ़ावा मिला; यही दोनों बातें सम्पूर्ण वैज्ञानिक प्रगति का कारण बनीं। प्रोटेस्टैंट धर्म-सुधार ने प्रकृति के अध्ययन और धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति दोनों में वज्ञानिक दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया। उसका मत था कि आध्यात्मिक सत्य की खोज में धर्माधिकारियों के पथप्रदर्शन को न मानना चाहिए और इंजीलों की व्याख्या अपने अनुभवों की कसौटी पर करनी चाहिए। इसका अर्थ यही है कि वैज्ञानिक सत्य की खोज प्राचीन दर्शनों में नहीं वरन् अपने अनुभवों में करनी चाहिए।[2] कैल्विन के अनुयायियों का मत था कि कुछ विशिष्ट

---

१. 'परिशिष्ट' देखिए।

२. टॉमस स्प्रैट ने अपने ग्रंथ 'द हिस्ट्री ऑफ द रॉयल सोसायटी' (१६६७) में ईसाई चर्च और रॉयल सोसायटी के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए लिखा है: "वे दोनों ही धार्मिक सुधार पर अपना दावा पेश कर सकते हैं; क्योंकि एक ने यह धर्म के क्षेत्र में सम्पन्न किया, दूसरे ने दर्शन के क्षेत्र में। दोनों ने इसकी उपलब्धि के लिए समान रास्ता अपनाया, दोनों को दूषित प्रतिकृतियों से गुज़रना पड़ा और दोनों ने पथ-प्रदर्शन के लिए मूल कृतियों का आसरा लिया; एक ने इंजीलों का, दूसरे ने जीवों के विशाल समुदाय का। दोनों के शत्रुओं ने उन्हें व्यर्थ ही एक-से अपराधों—प्राचीन परम्पराओं को त्यागने और नवीन का सूत्रपात करने—का भागी

व्यक्तियों के प्रारब्ध में ही मोक्ष होता है, किन्तु शीघ्र ही कहा जाने लगा कि अच्छे कामों से व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उन्हीं अच्छे कामों में से एक था प्रकृति का वैज्ञानिक अध्ययन। आधुनिक विज्ञान के उदय ने सम्पूर्ण दृष्टिकोण बदल दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक यूरोप में जितने विशाल परिवर्तन हुए, उतने ऑगस्टीन और मैकियावेली के बीच के एक हज़ार वर्षों में भी न हो सके थे।

जहाज़रानी की समस्याओं में रुचि के कारण पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रेक्षणात्मक खगोल का पुनरारम्भ हुआ। कोपर्निकस (१४७३–१५४३) के कार्यारम्भ के समय में अनेकानेक विशुद्ध आंकड़े मौजूद थे। ये प्रेक्षण योआन्स मुलर (१४३६–१४७६) तथा अन्य लोगों ने किये थे। कोपर्निकस ने ब्रह्मांड का केन्द्र सूर्य को माना और पृथ्वी को तीन गतियां प्रदान कीं—अपनी धुरी पर प्रतिदिन घूमना, वर्ष में एक बार सूर्य की परिक्रमा, तथा (अयन चलन का कारण समझाने के लिए) पृथ्वी की धुरी का हिलना (जाइरेशन)। कोपर्निकस के पश्चात् टाइको ब्राहे और केपलर हुए। केपलर के अनुसार सूर्य ही एक ऐसा आकाशीय पिंड था, 'जो परम पिता परमात्मा के लिए उपयुक्त है, बशर्ते कि वे स्वयं एक जड़ निवास-स्थान से सन्तुष्ट हो सकें और अपने कृपापात्र देवदूतों के साथ वहाँ रहने को तैयार हों।' गैलीलियो और न्यूटन ने कोपेर्निकस के कार्य को आगे बढ़ाया। १५४३ ईसवी में वेसालियस ने शरीरशास्त्र पर प्रथम प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाशित किया। गैलीलियो (१५६४–१६४२) ने खगोल के क्षेत्र में कोपर्निकस के नवीन विचारों को विकसित करने के साथ-साथ, यांत्रिकी के अध्ययन में गणितीय प्रायोगिक विधि का प्रयोग किया। उन्होंने तापक्रम की माप के लिए पहला तापमापी बनाया, समय की माप के लिए पेंडुलम का प्रयोग किया और सर्वप्रथम पेंडुलम घड़ी का डिज़ाइन बनाया। दुर्भाग्यवश उन्हें चर्च के अधिकारियों का कोपभाजन होना पड़ा, और कोपर्निकस-सिद्धान्त को मानने के कारण धर्म-विरोध के अपराध में दंडित होना पड़ा।

न्यूटन १६७१ में रॉयल सोसायटी के सदस्य चुने गये। गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त में उनका अंशदान प्रसिद्ध है। उनका विश्वास था कि समय, स्थान और गति परम राशियां हैं। अद्वैतवादी होने के कारण उन्होंने एक प्रकार का यांत्रिक 'विश्वदेवतावादी' दृष्टिकोण अपनाया।[1] दो शताब्दियों से अधिक समय तक न्यूटन के ग्रंथ

ठहराया। दोनों का ही विचार है कि उनके पूर्वज गलती कर सकते थे, फिर भी पूर्वजों के प्रति उनमें समुचित आदर था। दोनों ही महात्मा ईसा के उपदेश—'सभी चीज़ों का अनुभव प्राप्त करो'—माननेवाले थे। उनकी रुचियों और प्रकृतियों में इस सीमा तक समानता है"।

१. "परमात्मा शाश्वत और सर्वव्यापी है, और सदैव तथा सर्वत्र उपस्थिति के कारण ही

'प्रिंसिपिया' के आधार पर ब्रह्मांड की यांत्रिक व्याख्या प्रस्तुत की गई और भौतिक विज्ञान का विकास किया गया। न्यूटन के बारे में लाग्रेंज ने कहा था, "केवल एक ब्रह्मांड है, और उसके नियमों की व्याख्या करनेवाला विश्व-इतिहास में केवल एक व्यक्ति।"

अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड का विज्ञान मुख्यतः प्रायोगिक था और फ्रांस का विज्ञान मुख्यतः सैद्धान्तिक। लाग्रेंज (१७३६–१८१३) और लाप्लास (१७४९–१८२७) ने यांत्रिकी और खगोल के सिद्धान्तों का विकास किया, और लेवॉइशिये (१७४३–१७९४) ने जोसेफ़ प्रीस्ले (१७३३–१८०४) जैसे अंग्रेज़ वैज्ञानिकों के प्रायोगिक परिणामों का इस्तेमाल करके रासायनिक परिवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। हम्फ्री डेवी (१७७८–१८२९) और माइकेल फ़ैरडे के साथ-साथ रसायन और विद्युत् का विकास आरम्भ हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी को वैज्ञानिक युग की पहली शताब्दी कहा जा सकता है। इस शती के विचारकों ने प्राकृतिक व्यवस्था की एकता को स्वीकार लिया और मानव को उसी व्यवस्था के नियमों और परिमितताओं के अधीन, उसका एक अंग मानना आरम्भ कर दिया। अठारहवीं शताब्दी में भूगर्भशास्त्र एक अलग विज्ञान बन गया। चार्ल्स लेल (१७९७–१८७५) ने भूगर्भशास्त्र पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं, यथा 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ जियोलोजी : बींग ऐन एटेम्प्ट टु एक्सप्लेन द फ़ॉर्मर चेन्जेज़ ऑफ़ द अर्थ सरफ़ेस बाई रेफ़रेंस टु कॉज़ेज़ नाऊ इन ऑपरेशन' (१८३०–१८३३) और 'एंटिक्विटी ऑफ़ मैन' (१८६३)। चार्ल्स डार्विन ने अपना प्रारम्भिक कार्य भूगर्भशास्त्र में किया था और उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि वे भूगर्भ-शास्त्र के अध्ययन के पश्चात् ही जीवजातियों के विकास-सिद्धान्त तक पहुंच सके थे, यद्यपि विकास की प्रक्रिया का विचार उन्हें माल्थस के 'एसे ऑन पॉपुलेशन' से मिला था। 'द डिसेंट ऑफ़ मैन' के अन्तिम अनुच्छेद में उन्होंने लिखा था: "मानव, यद्यपि अपने प्रयत्नों के फलस्वरूप नहीं, ऊपर उठकर प्राणिक्रम के शीर्ष पर पहुंच सका है; इस बात पर उसका गर्व क्षम्य है। और यह तथ्य कि वह आदिकाल से शीर्ष पर नहीं था किन्तु ऊंचे उठकर पहुंचा था, आशा का संचार करता है कि सूदूर भविष्य में उसका प्रारब्ध उसे और ऊंचाई तक उठाएगा।" इसी बीच, एक अन्य अंग्रेज़ जीववैज्ञानिक वालेस (१८२३–१९१३) ने 'प्राकृतिक चुनाव का सिद्धान्त'

समय और स्थान का सर्जक है···सर्वत्र अपनी सत्ता के कारण वह अपने असीम एकरूप मस्तिष्क की सभी वस्तुओं को अपनी इच्छानुसार चालित और इस प्रकार ब्रह्मांड के भागों का निर्माण व पुनर्निर्माण कर सकता है; अपने शरीर के अंगों के परिचालन की भी उतनी योग्यता हममें नहीं है।"

विकसित कर लिया। स्वतः सिद्ध मान लिया गया कि 'परिस्थितियों के सर्वाधिक अनुकूल प्राणी ही जीवित रह पाते हैं' के अनुसार प्रगति तो आवश्यक है। हर्बर्ट स्पेंसर(१८२०–१९०३)ने स्वतंत्र व्यापार और आर्थिक प्रतियोगिता की नीतियों का समर्थन 'प्राकृतिक चुनाव के सामाजिक रूप' में किया। डार्विन के सिद्धान्त ने शारीरिक तौर पर आदमी को बनमानुस के साथ सम्बंधित बताया, और इससे धर्म पर आस्था रखनेवाले लोग परेशान हुए। डिज़रायली ने १८६४ में कहा: "वाचाल दृढ़ता के साथ जिस प्रश्न को समाज के सामने रखा गया है और जो मुझे अत्यन्त विचित्र मालूम पड़ता है, वह है क्या? प्रश्न है: मनुष्य बनमानुस है या फ़रिश्ता? माई लॉर्ड, मैं तो फ़रिश्तों का पक्षपाती हूं। मैं घृणा और उपेक्षा से इन नये सिद्धान्तों का खंडन करता हूं।"

सार्वजनिक विरोधों के बावजूद, जीवविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र में विकास-सिद्धान्त का उपयोग किया गया। जॉर्ज मेण्डेल ने वंश-परम्परा की प्रक्रिया पर खोज की (१८६५)। फ्रांसिस गाल्टन ने मनुष्य के मानसिक विकास में उत्तराधिकार के योग पर ज़ोर दिया (१८६७)। विल्हेल्म वुंट ने अपनी 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ फ़िज़ियोलॉजिकल साइकोलॉजी' में मस्तिष्क और शरीर की परस्पर-निर्भरता पर ज़ोर दिया (१८७२)। वाल्टर बेगहॉट ने विकास और प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्तों को सामाजिक रीति-रिवाजों और संस्थाओं पर लागू किया (१८७३)। इन सबसे मानव की उत्पत्ति और विकास-सम्बंधी नये सिद्धान्त का प्रचलन हुआ। इंगलैंड में टॉमस हेनरी हक्सले और जर्मनी में अर्न्स्ट हैकेल जैसे शक्तिशाली लेखकों ने इन सिद्धान्तों को लोकमानस तक पहुंचाने में योग दिया। औषध-विज्ञान और शल्यचिकित्सा के क्षेत्र में जोसेफ़ लिस्टर (१८६५), लुई पास्च्युर और रॉबर्ट कॉच ने महत्त्वपूर्ण काम किये, जिनसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सम्मान और सृजनात्मक प्रयत्नों को बढ़ावा मिला।

अल्बर्ट आइन्स्टाइन ने, जिनकी मृत्यु कुछ समय पूर्व ही हुई है, दुनिया के बारे में हमारी विचारधारा ही बदल दी। वे ब्रह्मांड को असीम नहीं, सीमित मानते थे। उनकी धरणा थी कि पदार्थ और ऊर्जा एक ही वस्तु के दो रूप हैं। उनका 'सापेक्ष्यवाद' व्यष्टिभंजनक्रिया में सहायक हुआ।

८. आधुनिक टेक्नॉलॉजी

रॉयल सोसायटी का उद्देश्य था 'प्राकृतिक वस्तुओं तथा प्रयोगों द्वारा सभी लाभप्रद कलाओं, उत्पादनों, यंत्रों, इंजनों और आविष्कारों के बारे में ज्ञान का संवर्धन करना।' टेक्नॉलॉजी वास्तव में विज्ञान की सन्तान है और स्वयं विज्ञान

के विषयों और विधियों पर आधारित है। फ्रांसिस बेकन ने टेक्नॉलॉजी के विकास के उदाहरणस्वरूप बारूद, मुद्रण और कुतुबनुमा के आविष्कारों का नाम लिया था। उन्होंने तेरहवीं शताब्दी के अपने नामराशि रॉजर बेकन के, जिनका मत था कि वैज्ञानिक विधि के उपयोगस्वरूप प्राप्त तकनीकी आविष्कारों से भविष्य अत्यन्त सुन्दर होगा, विचारों को अपना लिया था। फ्रांसिस बेकन का कहना था कि प्रकृति की सैद्धांतिक व्याख्या और उसके तकनीकी नियंत्रण के संयोग से 'क्रमशः ऐसे आविष्कार' संभव हो सकेंगे 'जो मानवता की आवश्यकताओं को कम और यंत्रणाओं को समाप्त कर सकेंगे।' सत्रहवीं शताब्दी में तापमापी, दाबमापी, दूर-दर्शी, अणुवीक्षण यन्त्र, हवापम्प, बिजली की मशीन और पेंडुलम की घड़ी जैसे उपकरणों का विकास हुआ।

अठारहवीं शताब्दी में, औद्योगिक क्रांति के युग में, टेक्नॉलॉजी की अन्य उपलब्धियां सामने आईं। अठारहवीं शताब्दी का सबसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार था भाप का इंजन। आज उत्तरी अमरीका में टेक्नॉलॉजी अत्यन्त समुन्नत है और वह युद्ध तथा शांति के अनेक विशालकाय उपकरण तैयार कर रहा है। मानव जीवन की सामान्य समृद्धि तथा मानव सौख्य के विकास के लिए ही इन उपकरणों का उपयोग अपेक्षित था।

आधुनिक सभ्यता का नियन्त्रण वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञों के हाथ में है। प्रत्येक विशेषज्ञ विवेकयुक्त व्याख्या की महान विधि की उत्पत्ति है और अलम्बदार भी। इसी विधि ने प्राकृतिक विज्ञानों, टेक्नॉलॉजी, आर्थिक प्रतियोगिता और राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता के साथ गठबन्धन करके आधुनिक औद्योगिक समाज को जन्म दिया है। इस विकास ने यूरोप के सामन्ती और बूर्जुआ समाज को खत्म कर दिया और विशाल उपनिवेशीय क्षेत्रों को आकार प्रदान किया। दो विश्वयुद्धों ने शक्ति का संतुलन बिगाड़ दिया है, और टेक्नॉलॉजी की युक्तियों को अपनाने-वाले विशाल देशों में सीधी प्रतिद्वन्द्विता है। कारण स्पष्ट है। नाभिकीय ऊर्जा के क्षेत्र में मानव की खोजों ने सम्पूर्ण मानव-सभ्यता के विध्वंस के उपाय पैदा कर दिये हैं और एक ऐसे भविष्य का आभास दिया है जो मानवता के आज के स्वप्नों से परे है। विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के परिणामों को अमंगलकारी उद्देश्यों की पूर्ति में लगाना विज्ञान और टेक्नॉलॉजी की आत्मा को ही सरासर दूषित करना होगा। वैज्ञानिक शिक्षा का उद्देश्य मानव के दृष्टिकोण और रुचि को अधम व भौतिक कार्यों तक ही सीमित कर देना नहीं है। उसका उद्देश्य है मानवता की एकता के प्रति एक अहसास जगाना, क्योंकि वैज्ञानिक आविष्कारों ने जिन भयानक शक्तियों

को जन्म दिया है उनके द्वारा ही समूल विनाश से मानवता की रक्षा यही अहसास कर सकता है।

६. आधुनिक दर्शन

वैज्ञानिक आन्दोलन ने मानव-मस्तिष्क को उजागर कर दिया है और दर्शन तथा धर्म को अत्यन्त प्रभावित किया है। आधुनिक यूरोपीय दर्शन का आविर्भाव अत्यन्त तीव्र वैज्ञानिक सक्रियता के युग में हुआ है। कोसा के निकोलस (१४०१–१४६४), ग्यार्दानो ब्रूनो (१५४८–१६००) और फ्रांसिस बेकन ने आधुनिक दर्शन की आधारभूमि तैयार की। दृष्टिकोण का केन्द्र ईश्वर नहीं रहा, मानव हो गया। मध्ययुगीन दर्शन पादरियों का उत्पादन था और पूर्णतः ईसाई सिद्धान्तों के दायरे के भीतर था, इसके विपरीत आधुनिक दर्शन अधिकाधिक धर्मनिरपेक्ष होता गया और सामान्य जन द्वारा उद्भूत हुआ। विज्ञान की प्रकृति और परिकल्पनाएं ही आधुनिक पश्चिमी दर्शन की केन्द्रीय समस्याएं बनीं। फ्रांसिस बेकन (१५६१–१६२६) को मालूम था कि मानवता के जीवन में विज्ञान का कितना बड़ा भाग हो सकता है। वे वैज्ञानिक विधि को प्रायोगिक और अनुमानशील मानते थे। विज्ञान के लिए गणित का महत्त्व तो उन्हें स्वीकार था किंतु विज्ञान और वियोजक (डिडक्टिव) तर्कशास्त्र का संग पसन्द नहीं था। रॉबर्ट ग्रासेटेस्टे और रॉजर बेकन ने किसी दी हुई विचारप्रणाली के आधार पर परिणाम निकालने की प्रथा का विरोध किया और तथ्य-निरीक्षण, गणित के प्रयोग तथा प्रयोग-विधि का समर्थन।

रेने दकार्त (१५९६–१६५०) ने यांत्रिकी के अध्ययन में प्रयुक्त गणितीय विधि का साधारणीकरण करके प्राकृतिक क्रियाकलापों का यांत्रिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। किन्तु गणितीय-प्रायोगिक विधि की पहुंच माप-योग्य प्रक्रियाओं से परे न थी। पदार्थ के माप-अयोग्य गुणों, जैसे रंग, स्वाद, गंध, को ज्ञानेन्द्रियों के चेतना-विषयक गुण समझा जाता था, बाह्य संसार में जिनका कोई अस्तित्व नहीं है। इसके विपरीत तन्मात्रा, गति, विस्तार आदि मापयोग्य गुणों को पदार्थ के प्राथमिक, वास्तविक, पदार्थ-विषयक गुण माना जाता था। दकार्त के अनुसार सभी मापयोग्य गुणों का महत्त्व एक समान नहीं होता।

सहज बुद्धि से कुछ आधारभूत विचार सूझे थे, जिनसे प्रारम्भ करके गणितीय परिणाम निकाले गये। ये हैं गति, विस्तार और ईश्वर। दकार्त ने कहा था: "गति और विस्तार मुझे मिल जाय तो मैं संसार का निर्माण कर दूंगा।" उनकी विचारप्रणाली का मुख्य आधार ईश्वर था। ईश्वर ने विस्तार बनाया और ब्रह्मांड को गति प्रदान की। ब्रह्मांड में गति का परिमाण स्थिर है, क्योंकि वह केवल

एक बार निर्माण के क्षण में मिला था। इस प्रकार दकार्त संवेग की अविनश्यता के नियम तक जा पहुंचे थे।

बेकन प्रयोगशील परम्परा के पोषक थे। दकार्त ने जोर देकर बताया कि गणित का योग विज्ञान में कितना हो सकता है। उन्होंने गणित की तकनीक में प्रमुख योग दिया और नियामक (कोआर्डिनेट) ज्यामिति का आविष्कार किया।

दकार्त के मत में सभी भौतिक वस्तुएं यांत्रिकी के नियमों का पालन करनेवाली मशीनें हैं; इन वस्तुओं में अकार्बनिक पदार्थ, पौधे, जानवर और मानव शरीर सभी को उन्होंने सम्मिलित किया था। दकार्त ने आध्यात्मिक संसार के अस्तित्व को स्वीकार किया है, मानव जिसका भागीदार अपनी आत्मा के बल पर बनता है। मानव ब्रह्मांड के यांत्रिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में भाग लेता है। दकार्त के समय से, यह द्वैतवाद यूरोपीय दर्शन का केन्द्र है। दकार्त के अनुसार पदार्थ का नियंत्रण विवेक और विज्ञान द्वारा, तथा आत्मा का नियंत्रण आस्था और धर्मशास्त्र द्वारा होता है। इस द्वैत के बावजूद, दकार्त का विचार था कि मानव-मस्तिष्क अधिकांशतः शरीर के आन्तरिक क्रियाकलापों पर निर्भर करता है। अपनी कृति 'डिस्कोर्स ऑन मेथड' में दकार्त कहते हैं: "शरीर के अंगों की अवस्था तथा सम्बन्धों के साथ मस्तिष्क का इतना गहरा सम्बन्ध है कि मानव को आज से अधिक बुद्धिमान और प्रवीण बनाने का कोई उपाय औषधशास्त्र में ही पाया जा सकता है और वहीं उसकी खोज होनी चाहिए।"

दकार्त ने गणित की उपपत्तियों के समान स्पष्ट और स्वयंसिद्ध प्रमाणों से आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया। उनका विचार था कि वे ईश्वर तथा बाह्य संसार की सत्तासिद्ध और मानव तथा ब्रह्मांण्ड में पदार्थ और आत्मा के परस्पर-सम्बन्ध का विवेचन प्रस्तुत कर चुके हैं। एक बार सृष्टि के सृजन के पश्चात् ईश्वर ने उसकी कार्यशीलता में व्यवधान नहीं डाला। यह सोचना गलत है कि ईश्वर ब्रह्मांड के दिनानुदिन कार्यक्रम में भाग लेता है। पास्कल वैज्ञानिक और धर्मशास्त्री दोनों थे और सृष्टि के परिचालन के लिए ईश्वर को लाने और बाद में हमेशा के लिए छुट्टी दे देने के विचार के लिए दकार्त को कभी क्षमा नहीं कर सके। कोई आश्चर्य नहीं कि रोम और पेरिस में दकार्त के ग्रन्थों को निषिद्ध कोटि में रखा गया।

स्पिनोत्सा ने अपने अध्यात्मवाद की विवेचना के लिए ज्यामितीय विधि अपनायी। उन्होंने अपनी योजना का केन्द्रबिन्दु ईश्वर को अवश्य माना किन्तु प्राकृतिक नियमों के अनुसार 'ओल्ड टेस्टामेंट' की व्याख्या करने का प्रयास किया। सन् १६५६ में यहूदी समाज ने ऐम्सटर्डम में उनके काम को धर्मविरोधी और धर्म

के लिए खतरनाक होने का अपराधी ठहराया।

जर्मन दार्शनिक लीबनिज़ (१६४६–१७१६) 'डिफ़रेन्शियल कैल्कुलस' के आविष्कारकों में से एक थे। उनके मत में अन्तिम सत्य सारे परिवर्तनों और अंतरों के नीचे दबा अप्रत्यक्ष कोई अपरिवर्तनशील वस्तु नहीं है। परिवर्तन और अन्तर का सिद्धांत स्वयं ही एक बल है। उनका मत था कि हमारी दुनिया सब सम्भव दुनियाओं में सर्वश्रेष्ठ है और 'अधिकतम व न्यूनतम के सम्बन्धों पर आश्रित है, जिसके कारण कम से कम व्यय करके अधिक से अधिक प्रभाव पैदा किया जा सकता है।'

लॉक ने अपने 'एसे ऑन ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग' (१६९०) में, मानव-मस्तिष्क को जन्म के समय, कोरा कागज़ बताया है, जिसपर बाह्य संसार के उद्दीपनों का प्रभाव पड़ता है, जिनके फलस्वरूप भावनाओं और विचारों का जन्म होता है। उनका दृष्टिकोण था यांत्रिक दर्शन को लागू करने का। वाल्तेयर ने लॉक के बारे में कहा है कि "उनसे अधिक अच्छी तरह कोई नहीं सिद्ध कर सका है कि ज्यामिति के ज्ञान के बिना भी ज्यामितीय प्रवृत्ति को कैसे प्राप्त किया जा सकता है।" लॉक के मनोविज्ञान के सिद्धान्त ने तीन महत्त्वपूर्ण समस्याओं को जन्म दिया : (१) दृष्टि, ध्वनि, स्वाद, स्पर्श और गंध के विभिन्न प्रभाव किस प्रकार मिश्रित होकर एक ही चेतना प्रदान करते हैं? (२) चेतना किस प्रकार भावना में बदल जाती है? (३) भावनाएं किस प्रकार परस्पर सम्मिलित होती हैं?

लॉक ने धर्म के मूल्य को अस्वीकार नहीं किया। कुछ शताब्दियों से वैज्ञानिक चिंतन और धर्मशास्त्रीय विचारों का सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न हुए हैं। १६९६ में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक विधेयक पारित किया कि ईसा के देवत्व को अस्वीकार करना दंडनीय अपराध है। किन्तु अनेक व्यक्तियों की निजी सम्मतियां परम्परावादी न थीं। यूरोप के विभिन्न भागों में धार्मिक सहिष्णुता विभिन्न मात्राओं में उपजी।

आयरलैंड में मॉलीनॉ और बर्कले तथा फ्रांस में दिदेरो और कॉण्डिलाक ने लॉक के दृष्टिकोण का विकास किया। ह्यूम ने अपनी 'ट्रीटाइज़ ऑन ह्यूमन नेचर' (१७३९) में इस समस्या को उठाया कि भावनाएं किस प्रकार सम्मिलित होकर विचारों को जन्म देती हैं। अपनी कृति में उन्होंने लिखा : "भावनाओं के संयोग के तीन नियम मालूम पड़ते हैं; यथा, 'सादृश्य', समय या स्थान में 'सम्पर्क', तथा 'कारण' या 'प्रभाव'।" मनोविज्ञान के ये नियम भौतिकी में यांत्रिकी के नियमों के समतुल्य हैं।

ह्यूम आत्मचेतन को ज्ञाता नहीं वरन् ज्ञान मानते थे। उनके अनुसार आत्मचेतन भावनाओं और प्रभावों की शृंखला है 'जो कल्पनातीत शीघ्रता से निरन्तर

आते हैं और सदैव प्रवहमान व गतिशील रहते हैं।' यदि आत्मचेतन मानसिक घटनाओं का प्रवाह या क्रम मात्र हो तो संश्लेषण अथवा ज्ञान सम्भव नहीं। ज्ञान हमें एक पूर्ण इकाई के रूप में नहीं, वरन् खंडों में प्राप्त होता है जिनका संश्लेषण आवश्यक है। आत्मचेतन में एकता या विशिष्टता न हो तो ज्ञान संभव नहीं। ह्यूम की परिकल्पना के अनुसार ज्ञान संभव ही नहीं है। हम किसी निश्चय पर नहीं, केवल संभाव्य परिणामों तक पहुंच सकते हैं।

चिकित्सक डेविड हार्टली (१७०५–१७५७) ने १७४९ में प्रकाशित अपने ग्रंथ 'औब्ज़रवेशन्स ऑन मैन' में इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया कि ज्ञानेन्द्रियों पर पड़नेवाले प्रभाव किस प्रकार भावनाओं में बदल जाते हैं। चूंकि इन्द्रियों पर स्वाभाविक ढंग से प्रभाव हमेशा पड़ते रहते हैं, इसलिए कोई भी एक प्रभाव सम्बद्ध भावनाओं की शृंखला का आरंभ कर सकता है।

इस सिद्धान्त का उपयोग फ्रांस में मानवता की भलाई के लिए किया गया। यदि जन्म के समय सभी मनुष्य समान हैं (जैसा लॉक ने कहा था) तो उनमें भिन्नता पैदा होने का कारण है वातावरण का असमान प्रभाव। हेलवेटियस (१७१५–१७७१) ने मनुष्यों में भिन्नता का कारण शिक्षा की असमानता को माना है और अपनी कृति 'ऑन द माइंड' में ज़ोर देकर कहा है कि 'समुचित शिक्षा प्राप्त करके ही मानव सुखी और शक्तिशाली बन सकता है।' वाल्तेयर की कृतियों और दिदेरो की 'एन्साइक्लोपीडिया' की भी यही ध्वनि है कि ज्ञान ही मानव की प्रगति का आधार है। वाल्तेयर ने लिखा था : "विवेक और उद्योगों की अधिकाधिक प्रगति होगी, लाभप्रद कलाओं का उत्कर्ष होगा, और मनुष्य को दूषित करनेवाले दुर्गुण तथा उनसे पैदा होनेवाले क्षयकारी पक्षपात राष्ट्र के शासकों में क्रमशः समाप्त हो जाएंगे।" दिदेरो ने कहा कि 'एन्साइक्लोपीडिया' के उद्देश्य हैं 'भूतल पर फैले समस्त ज्ञान को एक स्थान पर एकत्र करना, और इस प्रकार एक सामान्य विचार-प्रणाली का सृजन करना, जिससे बीते युगों की उपलब्धियां व्यर्थ न होने पाएं और हमारी आगामी पीढ़ियां अधिक ज्ञानवान, अतः अधिक गुणी और सम्पन्न हो जाएं।'

बर्कले और ह्यूम के संशयात्मक तर्कों का उत्तर काण्ट ने दिया आत्मचेतन के कर्तव्य को प्रमुख मानकर। काण्ट ने आत्मचेतन के दो विभाग किए : विशुद्ध आत्मचेतन या ज्ञाता अथवा 'मैं', और अनुभवात्मक आत्मचेतन या ज्ञात अथवा 'मुझे, मुझसे, मुझको…'। आत्मचेतन ही खंड-खंड और क्रमशः प्राप्त आधारसामग्री का संश्लेषण करके ज्ञान-वस्तु तैयार करता है। काण्ट के अनुसार ज्ञान-सम्बंधी क्रिया-कलापों के तीन स्तर हैं : प्रतिबोधन के रूपों से सम्बंधित, 'सौंदर्य-विषयक'; मेधा की धारणाओं से सम्बंधित, 'विश्लेषणात्मक'; बुद्धिपरता से सम्बंधित, 'तार्किक'। मेधा की

धारणाएं ही मस्तिष्क की सृजनात्मक प्रवृत्तियां या अनुभवों का निर्माण करती हैं, जिनके बिना अनुभवात्मक जगत् का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वे मस्तिष्क की एकीकरण-प्रवृत्ति के तर्कसंगत अमूर्त रूप नहीं वरन् सक्रिय प्रकाशन हैं। अनुभव-बहुल होने पर ही धारणाओं का उपयोग हो सकता है। इन कारण-कार्य-सिद्धान्तों का परात्पर उपयोग गलत है। उनके ही अनुरूप अनुभवात्मक जगत् दृश्य होता है। अतः ज्ञान अनुभव-जगत् तक सीमित है। वस्तुओं के वास्तविक रूप का ज्ञान उनसे नहीं प्राप्त हो सकता।

मेधा की धारणाएं अनुभव को जन्म देती हैं। इसके विपरीत बुद्धिपरता परात्पर है। उनके उपयुक्त वस्तुओं का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता। वे वास्तव में विचार के इतने ऊंचे स्तर हैं कि इन्द्रियग्राह्य अनुभवों के रूप में व्यक्त नहीं हो सकते। वे आकांक्षाएं हैं, स्वप्न हैं, जिन्हें त्यागा नहीं जा सकता। बुद्धिपरता के उपयुक्त वस्तुओं का कोई 'विज्ञान' संभव नहीं है, यद्यपि हमारे आचरण अनिवार्यतः ऐसे होते हैं मानो इस प्रकार की वस्तुएं हैं। हमारे ज्ञान-सम्बंधी जीवन का आधार अवस्था और आशा हैं। हम सिद्ध नहीं कर सकते कि ईश्वर की सत्ता है और आत्मा अनश्वर है। नैतिक के कारण बुद्धिपरता को गंभीरतर अर्थ प्राप्त होता है। अपनी कृति 'क्रिटिक ऑफ़ जजमेंट' में कांट ने एक सहज बोध की सम्भावना की बात कही है। यह बोध विशिष्टता और सार्वभौमिकता में कोई अन्तर नहीं करता।

प्लेटो के परात्पर बुद्धिवादिता के समान बुद्धिपरता इस अनुभवात्मक संसार की नियामक सिद्धान्त है, ईश्वर के सृजनात्मक मस्तिष्क की उपज है, संसार का अन्तिम कारण है। वह हमारी कल्पना की उपज नहीं, यथार्थ का अंग है।

हीगेल वैज्ञानिक ज्ञान और दार्शनिक विचारों में अन्तर करते हैं। प्रथम आंशिक और अपूर्ण है, किन्तु द्वितीय साकार और सम्पूर्ण। कांट और हीगेल दोनों ही सांसारिक वस्तुओं को इन्द्रियग्राह्य मानते हैं किन्तु कारण भिन्न हैं। हीगेल ने लिखा है : "कांट के अनुसार, दृश्य जगत् की सारी वस्तुओं को हम देख-भर सकते हैं, उनके वास्तविक रूप का ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकते; उनका वास्तविक रूप दूसरे जगत् की वस्तु हैं, जहां हम पहुंच ही नहीं सकते।...सत्य वास्तव में यों हैं : जिन वस्तुओं को हम सीधे समझ लेते हैं वे मात्र घटनाएं हैं, केवल हमारे लिए नहीं, अपने वास्तविक रूप में भी; वे सीमित हैं, इसलिए यही मानना उचित होगा कि उनकी सत्ता का आधार वे स्वयं नहीं वरन एक सार्वभौम चैतन्य है। यह सही है कि दृश्य जगत् के बारे में यह विचार कांट के विचार के समान बुद्धिवादी है, किन्तु इसे 'क्रिटिकल फ़िलॉसफ़ी' के आत्मगत बद्धिपरतावाद के विपरीत 'पूर्णप्रत्ययवाद' कहना चाहिए।"[1]

१. 'एन्साइक्लोपीडिया', पैंतालीसवां प्रकरण।

हीगेल के अनुसार, 'डायालेक्टिक्स' धारणाओं का विवेचन है। निम्नतर धारणाएं स्वतंत्र सत्ताएं नहीं वरन् एक सर्वथा स्वतंत्र और यथार्थ उच्चतम धारणा की अंश हैं, इसीलिए हमें उनसे गुज़रने पर बाध्य होना पड़ता है। ज्ञान के अनुभवात्मक और तार्किक रूप अमूर्त हैं, क्योंकि वे आंशिक हैं। उच्चतम धारणा के अतिरिक्त अन्य कोई धारणा पूर्णतः बुद्धिपरक और यथार्थ नहीं हो सकती। पूर्ण प्रत्यय उच्चतम धारणा है। तथा आन्तरिक अथवा बाह्य सम्पूर्ण यथार्थ और सारे अनुभवजगत् की सभी वस्तुओं में व्याप्त है। और चूंकि सारे अनुभवों में यह पूर्ण प्रत्यय व्याप्त है, इसीलिए हम किसी निम्न, अनुपयुक्त धारणा से सन्तुष्ट नहीं हो पाते। हम सदैव पूर्णता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। मानस में निश्चयतः वह 'पूर्ण' रहता है, जिससे आंशिक सत्य निकलते हैं।

जर्मनी के, विशेषतः फ़िश्ते और हीगेल के, दार्शनिक पूर्णतावाद का दावा था कि उसे पूर्णतया मालूम है कि ईश्वर क्या है और उसकी आकांक्षाएं क्या हैं। इससे मानव-बुद्धि से परे के धार्मिक विचारों का बहिष्कार हुआ है और मानव-बुद्धि में विश्वास दृढ़ हुआ। हीगेल का कथन है कि स्वतंत्रता, आत्मा और ईश्वर दार्शनिकों के लिए ज्ञान-प्राप्ति की वस्तुएं हैं।

अठारहवीं शताब्दी की जागृति को 'बुद्धि का युग' कहा गया। ब्रह्मांड में उपस्थित नियमों के आधार पर बताया गया कि उसमें एक तर्कसंगत व्यवस्था व्याप्त है। पूर्ण विश्वास किया जाने लगा कि मानव सभी वस्तुओं की माप का पैमाना है, और सर्वोच्च आदर्श है अधिकाधिक मनुष्यों की अधिकतम प्रसन्नता। धर्म की प्रवृत्ति भी मानवतावादी हो गई। इंग्लैंड में 'मेथॉडिस्टों,' जर्मनी में 'पीटिस्टों' और 'सोसायटी आफ़ फ्रेंड्स' ने ज़ोर दिया कि सामाजिक अवस्था का सुधार हो, जेलों और अस्पतालों का सुधार हो, दण्ड-विधान में नरमी हो, दासता का नाश हो। बुद्धिवादी और धार्मिक दोनों प्रकार के व्यक्ति अधिक सामाजिक न्याय की मांग करने लगे। अमरीका की क्रान्ति धर्मनिरपेक्ष और किसी हद तक ईसाई-विरोधी जागृति में हुई थी, किन्तु 'स्वाधीनता-घोषणापत्र' की धाराओं से स्पष्ट है कि उसने ईसाई परम्परा को तोड़ा नहीं। अमरीका की क्रान्ति के थोड़े समय पश्चात् फ्रांस में क्रांति हुई; उसके स्वतंत्रचेता नेताओं ने उन्हें तोड़ने की सचमुच कोशिश की। १७७० में ऐडवोकेट जनरल सेग्यूर ने स्वीकार किया था कि "विचारकों ने लोकमत परिवर्तित करके, सिंहासन को हिला और धर्म को असन्तुलित कर दिया है।" फ्रांसीसी क्रांति १७८९ में हुई थी।

अनेक लोगों का विश्वास था कि क्रान्ति के फलस्वरूप दुनिया का पुनर्जन्म हो रहा है। बैसिल के पतन का जो सामान्य प्रभाव लोगों पर पड़ा उसे वड्सवर्थ

ने लिखा है :

> यूरोप में उस समय खुशी की लहरें दौड़ रही थीं,
> फ्रांस स्वर्णयुग के शीर्ष पर स्थित था,
> और लग रहा था, मानवता पुनः जन्म ले रही है।

फ्रांसीसी क्रान्ति को केवल यंत्रणा और कुशासन के विरुद्ध विद्रोह नहीं वरन् मानवता का अद्वितीय पुनर्जन्म समझा गया। सरकार जनता के मानस में है, यह विचार ज़ोर पकड़ता गया और मध्ययुग से चली आ रही संस्थाएं या तो नष्ट हो गयीं या उनकी प्रभावशालिता बहुत कम हो गई। प्रजातांत्रिक राष्ट्रीयता की भावना फैलने लगी।

बन्धुत्व के आदर्श ने आदर्शवादियों को बहुत प्रभावित किया। गॉडविन ने लिखा : "उस शुभ दिन में बीमारी, यंत्रणा, निराशा और विरोध कुछ न होगा।" सन् १७६४ में कंडार्सेट ने अपना 'हिस्ट्री ऑफ़ द प्रॉग्रेस ऑफ़ द ह्यूमन स्पिरिट' लिखा। इस ग्रंथ में उन्होंने लिखा : "मानव की पूर्णता प्राप्त करने की शक्ति वास्तव में निस्सीम है; यह शक्ति अब पूरी तरह स्वतंत्र है और कोई भी ताकत इसे रोक नहीं सकती। इसकी सीमा का अन्त है इस पृथ्वी का अन्त, जिसपर हम आसीन हैं।" लाप्लास ने अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि सौरमंडल यांत्रिकी के सिद्धान्तों के अनुसार स्थायी है; इससे मानवता की असीम प्रगति का विश्वास दृढ़ हो गया। एक ओर लाप्लास ने सौरमंडल के विकास का सिद्धान्त सामने रखा (१७६६), तो दूसरी ओर काबानी ने उसी विकासवादी इतिहास के फलस्वरूप मानव की मानसिक क्षमताओं का अनुमान प्रस्तुत किया। लामार्क (१७४४–१८२६) का विश्वास था कि पशु मशीनें हैं, जो विकास के नियम के अनुसार ऊंची श्रेणी में पहुंच गए हैं। उन्होंने प्राप्त गुणों की विरासत का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इरास्मस डार्विन (१७३१–१८०२) ने अपनी 'ज़ूनोमिया' (१७६४) में पौधों और पशुओं की जातियों के विकास के संदर्भ में प्रगति के सिद्धान्त को सामने रखा। लामार्क और इरास्मस डार्विन का विश्वास था कि हर जीवधारी के भीतर एक बल होता है जो उसे उच्चतर श्रेणियों में पहुंचाता है।

पौधों का वर्गीकरण करनेवाला सबसे बड़ा वैज्ञानिक था लिना यूस (१७०७–१७७८)। उन्होंने पौधों और जन्तुओं दोनों का वर्गीकरण किया। बफ़न (१७०७–१७८८) का कहना था कि सभी कृत्रिम वर्गीकरण भ्रामक हैं। अपनी 'नेचुरल हिस्ट्री' की भूमिका में उन्होंने लिखा था : "भ्रम उत्पन्न होता है कि प्रकृति की प्रक्रिया को न समझ पाने में, जो सदैव अलग-अलग स्तरों पर होता है⋯सर्वाधिक पूर्ण जीवधारी से उतरते हुए आकारहीन द्रव्य तक पहुंच जाना इस प्रकार संभव

है कि अनुभव तक न हो।"

अर्न्स्ट हैकेल (१८३४–१६१६) ने जर्मनी में 'डार्विनवाद' का प्रसार किया। 'प्रकृतिवादी पूर्वनिश्चयवाद' पर विश्वास किया जाने लगा। माना जाने लगा कि ब्रह्मांड का प्रारंभ चक्राकार घूमती नीहारिकाओं के बीच की गैस से हुआ, और धीरे-धीरे लम्बे समय पश्चात् जीवन का जन्म हुआ, और फिर पैरवाली मछलियों, ज़मीन पर रहनेवाले पशुओं, थनी जन्तुओं के पश्चात् आदिमानव जनमा। विकास-क्रम के ये जीव प्राकृतिक वातावरण के अनुसार स्वयं को अनुकूल बना लेने की प्रवृत्ति के बढ़िया उदाहरण हैं। मस्तिष्क, विचार और मूल्य एक बन्द भौतिक प्रणाली के, जो पूर्वनिश्चित सुदृढ़ नियमों के अनुसार परिचालित है, उत्पादन हैं। इस यांत्रिक भौतिकवाद ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिए स्थान खाली कर दिया। कार्ल मार्क्स का कथन है कि इतिहास एक भौतिकवादी प्रक्रिया है। मानव भौतिक आवश्यकताओं, वर्ग-स्वार्थों और सम्पत्ति-अधिकारों का प्रतिफल है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह बल है जो मानवता को परिवर्तित करता जा रहा है। धरती पर समाजवादी स्वर्ग के मार्क्सवादी संदेश ने करोड़ों कामगरों के जीवन को नया अर्थ दिया। मार्क्सवादी सामाजिक विश्लेषण की वैज्ञानिक विधि और राजनीतिक सामूहिक आन्दोलन की नीति के पोषक हैं।

आश्चर्यजनक वैज्ञानिक आविष्कारों और तकनीकी उपलब्धियों के कारण अनेक लोगों का दृष्टिकोण हो गया है कि भौतिक, अर्थात् जो तोला और मापा जा सके, ही सत्य है। प्रयोगों द्वारा सिद्ध न की जा सकनेवाली स्थापनाएं न सही हैं, न झूठ। प्रयोगसिद्ध स्थापनाएँ, जैसे भौतिकी के नियम और प्रेक्षण, ही सत्य हैं। नीतिशास्त्र और अध्यात्मविद्या की स्थापनाओं का कोई अर्थ नहीं है।[1] वास्तविक वस्तुओं से

---

१. इस दृष्टिकोण की बानगी बेकन और ह्यूम में भी मिलती है। बेकन ने कहा था : "सभी मान्य दार्शनिक प्रणालियां वास्तव में नाटक हैं,जिनमें उनकी स्वयं-निर्मित अवास्तविक और काल्पनिक दुनिया उपस्थित है। केवल आज प्रचलित प्रणालियां अथवा प्राचीन सम्प्रदायों और दार्शनिक पंथों के बारे में ही मेरा विचार यह नहीं है; वरन् इसी प्रकार के अनेक नाटक अभी और भी लिखे जाएंगे और उसी कृत्रिमतापूर्वक प्रस्तुत किये जायेंगे।"—'नोवम ऑर्गेनम। यहां पर बेकन ने दार्शनिक विचारों की तुलना विश्वसनीय वैज्ञानिक नियमों से की है। इसी सन्दर्भ में ह्यूम का कथन है : "अध्यात्मविद्या के अधिकांश के विरुद्ध सर्वाधिक न्याययुक्त एवं विश्वसनीय आक्षेप यह है कि वह यथार्थ विज्ञान नहीं है। अध्यात्म या तो मानव के अहंकार के व्यर्थ प्रयास का, जो समझ से परे के विषयों की छानबीन करता है, परिणाम है; या लोकप्रचलित अंधविश्वासों की चालाकी है कि उचित रीति से अपनी रक्षा न कर पाने पर अपनी कमज़ोरी को ढकने और सुरक्षित रखने के लिए उसने कंटीली झाड़ियां लगा दी हैं।" 'इन्क्वायरीज़ कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग', पहला प्रकरण।

सम्बन्धित उक्तियों और श्रोता के मन में विशेष भावनाएं पैदा करनेवाली भावनोत्पादक उक्तियों में अन्तर है। कविता की उक्तियों की सत्यता का प्रश्न नहीं उठाया जाता, केवल उनके द्वारा जागरित संवेदन की बात की जाती है।

ब्रह्मांड का सप्रमाण और सुव्यस्थित विवरण का प्रयास दर्शन है, यह अब नहीं सोचा जाता। ब्रह्मांड के बारे में ज्ञान प्रदान करना विज्ञान का कार्य है। दर्शन का उद्देश्य अधिक से अधिक है विश्लेषण, स्पष्टीकरण। दार्शनिक को कोई मतलब नहीं कि ईश्वर, आत्मा अथवा संसार है या नहीं। वह इस उक्ति का अर्थ जानना चाहता है कि ईश्वर, आत्मा या संसार है।

बौद्धिक लोग तो प्रत्यक्षतः यांत्रिक भौतिकवाद या तार्किक प्रयोगसिद्धवाद से सन्तुष्ट हैं, किन्तु सामान्य जन में आस्था की कमी होती जा रही है। वैज्ञानिक ढंग से प्रशिक्षित लोग धर्मनिरपेक्ष मानववाद के हामी हैं, तो दूसरे लोग धार्मिक परम्पराजन्य शून्यवाद के पोषक हैं। हमारे समय की खूबियां हैं—ईश्वर से अलग रहना, अध्यात्म को दूर रखना और यथार्थवाद मानसिक दृष्टिकोण।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में, यूरोप में प्रकृतिवादी दर्शन का बालबाला था। आदमी स्वयं को मशीन की प्रतिछवि में देखता था।[1] मानव के दो दृष्टिकोणों में विरोध है। उसमें मूल्यों का ज्ञान और असीम की भूख है, इसलिए वह पृथ्वी पर सर्वाधिक स्पष्ट मूर्तिमान ईश्वर है। यह ईसाई धर्म के अनेक रूपों से सम्बद्ध उपनिषदों और प्लेटो की परम्परा है। एक दूसरा दृष्टिकोण है, जिसका आरंभ पुनर्जागरणकाल में हुआ था और जिसकी शक्ति के स्रोत विज्ञान की महान खोजें और तकनीकी आविष्कार हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार मानव एक ऐसा प्राणी है जिसे उसकी सहमति के बिना जीवन-प्रवाह में, बलों के संसार में फेंक दिया गया है और वह महसूस करता है कि उसका बचना एक ही शर्त पर संभव है कि जिन शक्तियों के साथ उसका संघर्ष है उन्हें वह अधिकाधिक अपने अधिकार में रखे। स्थायी समाज की स्थापना के लिए दोनों मूलभूत प्रवृत्तियों का सामंजस्य आवश्यक है। एक आक्रामक प्रकृतिवाद या धर्मनिरपेक्ष मानववाद और एक कृत्रिम अतिमानववाद, नवथामवाद, फंडामेंटलिज़्स और नवबार्फियावाद के रूपों में दोनों ही अत्युक्तियां हैं। लगता है, हम किसी भी भ्रांति में पड़ने को तैयार हैं, फिर चाहे वह पोप की हो या बाइबिल या मार्क्स की।

---

१. तुलना कीजिए, स्ट्रॉज़्-ह्यूपे : "आदमी एक चीज़ है, जिन्दगी मूर्खता है, प्रकृति तथ्यों का भंडार है, समाज एक गोला है जिसके भीतर प्रत्येक व्यक्ति अकेले अकस्मात् मिल गई अजनबियों की भीड़ का मुकाबला करता है।" 'द एस्ट्रेंजमेंट ऑफ़ वेस्टर्न मैन' (१९५३), पृष्ठ १३७।

किन्तु दूसरे दृष्टिकोण को मानने का दावा करनेवाले लोगों के आचरण पहले दृष्टिकोण वाले लोगों जैसे होते हैं। यदि हम अपनी घृणा और ईर्षा को पराजित कर सकें, तो जितनी शक्ति आज हमारे पास है, उससे हम इस पृथ्वी को स्वर्ग में बदल सकते हैं। किन्तु हमें भय है कि किसी पागलपन या मिथ्या गणना का काम करके—पागल तो हर देश में मौजूद हैं—हम सभ्यता की आत्महत्या का क्षण उपस्थित कर सकते हैं। नैतिक नियंत्रण और आध्यात्मिक अनुशासन की तत्काल आवश्यकता है। बियटी के शब्दों में, यूनान और गैलीली का अथवा मस्तिष्क और आत्मा का संघर्ष अभी भी जारी है। आशा का कारण केवल इतना है कि हम अपनी स्थिति के प्रति जागरूक हैं।

तृतीय व्याख्यान

पूर्व और पश्चिम

१. पूर्व पर पश्चिमी प्रभाव

विज्ञान और टेक्नॉलॉजी आधुनिक संसार का निर्माण करनेवाले मूल कारणों में से हैं। गत ४०० वर्षों में, पश्चिमी मानव ने अपनी सभ्यता का प्रसार दूरस्थ क्षेत्रों तक किया है और सभी महाद्वीपों पर अपना प्रभाव डाला है। लगभग १५०० ईसवी तक पूर्व और पश्चिम में काफी समानता थी। किन्तु टेक्नॉलॉजी की तेज़ प्रगति के कारण अब अन्तर पड़ गया है। इन चार शताब्दियों में इतिहास का अर्थ है यूरोपीय इतिहास; शेष संसार का मात्र औपनिवेशिक इतिहास था। हीगेल के शब्दों की सत्यता सिद्ध हो चुकी है: "यूरोपवासियों ने जहाज़ों पर पृथ्वी की परिक्रमा की है और सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी गोल है। उनके अधिकार में यदि कोई चीज नहीं आ पाई, तो या तो वह इस योग्य नहीं है, अथवा भविष्य में आ जाएगी।" यूरोप ने एशिया और अफ्रीका पर अधिकार कर लिया तथा आस्ट्रेलिया और अमरीका को आबाद किया।

उत्तमाशा अन्तरीप होकर भारत के लिए समुद्रपथ मालूम होने पर अमरीका की खोज के पश्चात् पृथ्वी के विस्तीर्ण स्थानों पर पश्चिमी लोगों का अबाधित प्रसार और नियन्त्रण स्थापित होता चला गया। इसे कभी-कभी कहा जाता है कि पश्चिम ने पूर्व पर आक्रमण कर दिया। यूरोपीय व्यापारियों ने पूर्वी देशों में पहुंचकर, किले, कारखाने और नौसैनिक अड्डे स्थापित किये। संचार-साधनों के विकास का लगभग सम्पूर्ण श्रेय पश्चिम को है। पश्चिमी देशों के जहाज़ ही दुनिया का अधिकतर सामान और सवारियां समुद्रों के आर-पार ले जाते हैं। उनके विमान महासागरों और महाद्वीपों के पार उड़ते चले जाते हैं। उनके रेलवे इंजन, तार, बिजली के आविष्कार, खेती-बाड़ी के औज़ार एशिया और अफ्रीका में उपयोग में आते हैं। उनके कारखानों के उत्पादन सुदूर देशवासियों की आवश्यकताएं पूरी करते हैं। मोटरकार, सिलाई की मशीनें, रेडियो, सिनेमा, टाइप-

राइटर, फ़ाउण्टेनपेन, कैमरा, पेटेण्ट दवाइयां सभी देशों में आम उपयोग की वस्तुएं हैं।[1]

पश्चिमी शक्तियों के समघात से अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन संस्कृतियों पर उन शक्तियों का राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व तो स्थापित हो गया, किन्तु उन (संस्कृतियों) की अपनी लम्बे समय से दबी पड़ी शक्तियां जाग उठीं और उनमें राष्ट्रीयता की भावना उदित हुई। पश्चिम ने ही अपने प्रभुत्व की विरोधी शक्तियों को सजग किया और गुलाम देशवासियों में उन योग्यताओं और संस्थाओं को पनपाया, जिनका प्रयोग उसके ही विरुद्ध भली प्रकार किया गया। टायपिंग और बॉक्सर-विद्रोह, भारत का स्वाधीनता-संग्राम और आधुनिक जापान का उदय 'पश्चिमीकरण' की उपलब्धियां हैं। कुछ ही दशकों में जापान भी पश्चिमी नमूने की पूर्णतः औद्योगिक आधुनिक शक्तियों में गिना जाने लगा। अमरीकी स्वाधीनता घोषणापत्र, फ्रांसीसी और रूसी क्रांतियों, अतलांतिक घोषणापत्र तथा संयुक्त-राष्ट्र-घोषणापत्र ने करोड़ों आदमियों को प्रेरित किया कि वे दासता का जुआ उतार फेंकें और राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त करें। जापान ने रूस को पराजित किया, तो एक नया विश्वास आदमियों के मन में जागा कि अपने उद्देश्य को प्राप्त करना उनकी क्षमता से परे नहीं है। दोनों युद्धों में 'अ-यूरोपीय' सेनाओं के उपयोग से समानता की भावना जागी किन्तु उसके परिणाम तत्काल प्रत्यक्ष नहीं हुए। इस प्रकार पश्चिमी प्रभुत्व ने स्वयं अपने नाश के बीज बोये।

एशियाई समाज पर पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव ही एशियाई राष्ट्रीयतावाद और एशियाई एकता का आधार है। हिन्दू धार्मिक पुनरुत्थान अंशतः पश्चिमी शोध का परिणाम है—अंशतः पश्चिमी प्रभुत्व की प्रतिक्रिया का और अंशतः ईसाई मिशनरी प्रचार के प्रति विद्रोह का। 'सोसायटी ऑफ़ जीसस' के सदस्यों पर पूर्वी एशिया के मिशन की ज़िम्मेदारी थी। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फ्रांसिस ज़ैवियर गोआ और जापान गये। सोसायटी के एक इटालवी सदस्य मातियो रिशी १५८२ में मैकाओ पहुंचे और १६०१ में पीकिंग, जहां १६१० में उनकी मृत्यु हो गई। उन्होंने और उनके सहयोगियों ने चीन के बौद्धिक समाज के आचार-व्यव-

---

१. 'साम्यवादी घोषणापत्र' से तुलना कीजिए: "बूर्जुआ वर्ग ने...सबसे पहले सिद्ध कर दिया कि मानव की सक्रियता क्या कर सकती है। इसने मिस्री पिरामिडों, रोमक बांधों, और गॉथिक गिरजों से कहीं अधिक आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाये हैं...बूर्जुआ वर्ग ने...सभी राष्ट्रों को सभ्यता के साये में ला खड़ा किया है। अधिक से अधिक सौ वर्ष के शासनकाल में, बूर्जुआ वर्ग ने इतनी विशाल और इतनी भारी उत्पादक शक्तियों का सृजन किया है, जितना उससे पहले की सारी पीढ़ियां एकसाथ मिलकर न कर पाई थीं।"

हार सीख लिये और गणित, द्रविकी तथा खगोल-सम्बन्धी अनेक चीनी ग्रन्थों के अनुवाद किये। पूर्व में यूरोपीय बस्तियों की स्थापना आरम्भ होने के बाद ईसाई मिशनों ने अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार किया, यद्यपि अनेक मिशन अपने कार्य की आड़ में आर्थिक प्रसार कर रहे थे। लिविंग्स्टन का वाणिज्य और ईसाई-धर्म-सम्बन्धी नारा इस बात का प्रमाण है। उनका कहना था कि व्यापार के रास्तों के खुलने के बाद ही मध्य अफ्रीका के आदिवासियों तक सभ्यता, अर्थात् (उनके अनुसार) ईसाई-धर्म की पहुंच संभव है। उनके लिए ईसाई-धर्म का अर्थ एक सिद्धान्त नहीं था, वरन् 'एक धुंधली दान-भावना थी, दवाइयां, व्यापार, शिक्षा थे।' एशिया और अफ्रीका के निवासी भी ईसाई-धर्म के प्रति आकर्षित हुए क्योंकि उनका विचार था कि प्रभु पश्चिम का धर्म 'ईसाई-धर्म' है, इसलिए वह पश्चिम की श्रेष्ठतर सैनिक क्षमता और वैज्ञानिक शक्ति का व्यावहारिक प्रेरणास्रोत भी है। राइट रेवरेण्ड स्टीफ़ेन नील ने लिखा है: "यह संयोगमात्र नहीं है कि ईसाई-धर्म के प्रसार की 'महान शताब्दी' ही यूरोपीय प्रसार की महान शताब्दी भी थी।"[१] अनेक बार तो मिशनरी-प्रवेश राजनीतिक नियंत्रण का बहाना बन गया। डॉ० स्टीफ़ेन नील का कथन है: "दक्षिण भारत में चर्च को सुदृढ़ बनाने का कार्य देहात के शिक्षकों ने किया, जिनके वेतन का अधिकांश सरकारी अनुदानों से मिलता था।" एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ उन मिशनों की विरोधी भावनाएं बढ़ती जा रही हैं जिनको सरकारी सहायता प्राप्त थी; फिर चाहे वह दुनियादारी के लिए हो अथवा सचमुच इस विश्वास के आधार पर कि ईसाई-धर्म स्वीकार कर लेने पर लोगों की स्थिति अधिक अच्छी हो जाएगी। स्वभावतः, राजनीतिक तनातनी के दिनों में, जो चर्च आर्थिक रूप से सरकार पर आश्रित थे, स्वाधीनता के लिए संघर्ष करनेवाली जनता की सहानुभूति न पा सके। इसीलिए कहा जाने लगा कि वे साम्राज्यशाही शक्तियों के एजेण्ट थे। अब स्वाधीनता प्राप्त हो चुकी है, ईसाइयों की दोतरफी वफादारी के बारे में सन्देह नहीं रह गये हैं और अनेक राष्ट्रों में वे सम्मानित नागरिक हैं। भारत में, समाज के नेता बनने के लिए आवश्यक है कि वे जनमानस के क्रांतिकारी जोश का साथ दें।

द्वितीय विश्वयुद्ध की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना यह नहीं है कि धुरी राष्ट्रों—जर्मनी, इटली और जापान—की पराजय हुई। वे तो इतने कम समय में ही अपनी पूर्वस्थिति पर पहुंचने और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में प्रभाव डालने योग्य हो गये हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है एशिया में नई शक्तियों—चीन, भारत, पाकिस्तान, इण्डोनीशिया, बर्मा, श्रीलंका, फिलीपाइन्स—का उदय।

---

१. 'ईस्ट ऐंड वेस्ट रिव्यू', अप्रैल १९५४, पृष्ठ ३५।

विदेशी शासन की शताब्दियों के बावजूद, एशिया और अफ्रीका के बारे में सर्वाधिक विशिष्ट तथ्य है उनकी अकथनीय दुर्गति, नितान्त गरीबी और निरक्षरता, अकाल और बीमारियां। अकेली आशाजनक बात है अपनी भयानक अमानवीय परिस्थितियों से ऊपर उठने की इन देशों की जनता की लालसा। लोग महसूस करने लगे हैं कि जिन बुराइयों से वे पीड़ित हैं, उन्हें दूर किया जा सकता है और उन्हें सहन नहीं करना चाहिए। वे विश्वास करने लगे हैं कि अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठने के लिए उन्हें विज्ञान का दृष्टिकोण तथा टेक्नॉलॉजी की विधियां अपनानी पड़ेंगी। यह सत्य है कि पश्चिम की तकनीकी विशिष्टता के कारण शस्त्रास्त्रों की होड़ में पश्चिम आगे हो गया। पूर्व एक ओर पश्चिम की सैनिक विजयों और ज़बर्दस्ती के शासन का विरोधी है, किन्तु दूसरी ओर पश्चिम के रेलवे इंजनों, डायनेमो और विमान का स्वागत भी करता है। वह विजेताओं को निकाल बाहर करना चाहता है, फिर भी उनकी विजयों के उपकरणों, यांत्रिकी, टेक्नॉलॉजी के उपकरणों और राजनीतिक संस्थाओं को स्वीकार करता है। पूर्व के देश इनका उपयोग गरीबी को मिटाने, आर्थिक अवसरों को विस्तृत करने तथा खाद्यपदार्थों, स्वास्थ्य और सफाई के स्तर को ऊंचा उठाने में करना चाहते हैं। खोये हुए समय को पूरा करने और संसार के समुन्नत राष्ट्रों के समकक्ष पहुंचने के लिए पूर्व टेक्नॉलॉजी की आधुनिक विधियों को अपना रहा है।[1]

असमान परिस्थितियों ने पूर्व और पश्चिम दोनों को बाध्य कर दिया कि वे टेक्नॉलॉजी का उपयोग करें; पूर्व का उद्देश्य है राजनीतिक परतन्त्रता तथा आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करना, और पश्चिम का उद्देश्य है अपनी श्रेष्ठता बनाए रखना। इन परिस्थितियों से आशंका है कि कहीं मनुष्य मशीन और भौतिक सफलता की निरंकुशता का शिकार न बन जाए।

पूर्व और पश्चिम का सम्पर्क एक ही ओर से नहीं रहा है। पश्चिम पर नवीन प्रभाव पड़े हैं। रेम्ब्रां ने मुगल चित्रों की अनुकृतियां बनाईं और जापान से नई ललित कलाएं पहुंचीं। व्यापार और शासन के उद्देश्य से पूर्वीय भाषाएं पढ़ी जाने लगीं। ईसाई मिशन गैर-ईसाई देशों के दर्शन में रुचि लेने लगे। कन्फ्यूशियस की 'अनालेक्ट्स', वैदिक साहित्य, बौद्धधर्म का 'त्रिपिटक', कुरान तथा अन्य इस्लामी ग्रंथों के यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुए। विदेशी धर्मों में विवेक और आ-

१. स्वर्गीय प्रोफ़ सर चार्ल्स बियर्ड ने, १९२८ में, अपनी 'व्हिदर मैनकाइण्ड ?' नामक पुस्तक में लिखा है : "कुछ समय पश्चात् यदि पूर्व युद्धभूमि में पश्चिम को परास्त कर दे, तो उसका यही अर्थ होगा कि पूर्व ने पश्चिम की टेक्नॉलॉजी को पूरी तरह अपनाकर उसका और विकास किया है तथा इस प्रकार स्वयं पश्चिमी सभ्यता में परिणत हो गया है।"

त्मिक गहराई मिले, जिनका पहले पता तक न था। लीबनिज़ ने कहा कि यूरोप और चीन के बीच विचारों का आदान-प्रदान होना चाहिए। वाल्तेयर की दृष्टि में कन्फ़्यूशियस एक महात्मा, दार्शनिक, पैगम्बर और राजनीतिज्ञ थे, और चमत्कार नहीं दिखलाते थे बल्कि केवल सद्गुणों की शिक्षा देते थे।

२. साम्यवाद और प्रजातंत्र

पूर्वीय देश केवल विज्ञान की आत्मा और टेक्नॉलॉजी की विधियों को ही नहीं वरन् पश्चिम में सफल राजनीतिक व्यवस्थाओं—उदार प्रजातंत्र अथवा साम्यवाद—को भी अपनाते जा रहे हैं।

आज जब पूर्व-पश्चिम सम्बन्धों की बात की जाती है तो हमें प्राच्य और पाश्चात्य, एशिया और यूरोप का ख्याल नहीं आता, वरन् यूरोप के राजनीतिक पूर्व और राजनीतिक पश्चिम का ख्याल आता है। जब यूरोप में ईसाई-धर्म का बोलबाला था तो रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टैंट मत पश्चिम के प्रतिनिधि थे और ग्रीक चर्च तथा रूसी परम्परावादी चर्च पूर्व के प्रतिनिधि। दोनों एक ही स्रोत, जूडाई-हेलेनीय, से उद्भूत थे। दोनों में परस्पर जितनी समानता है, उतनी समानता इनमें से किसी एक और किसी अन्य सभ्य समाज के बीच नहीं है। इसके बावजूद साम्यवादी पूर्व और प्रजातांत्रिक पश्चिम के बीच की खाई पश्चिमी संसार के बीच की खाई है।

साम्यवाद का वंशवृक्ष है—प्लेटो, न्यू टेस्टामेंट, क्रॉमवेल-युग के सामाजिक समानतावादी, रिकार्डो, ऐडम स्मिथ, हीगेल, फ्यूरबाख, मार्क्स, ऐंगल्स, लेनिन। साम्यवाद के कुछ विशिष्ट लक्षण पश्चिम के हैं।

यूनानी मानस तर्कप्रधान था। उसने विवेक की विशिष्टता पर ज़ोर दिया था। साम्यवाद का दावा है कि वह वैज्ञानिक विधि और विश्लेषण-पद्धति को उपयोग में लाता है। उसे स्वयं में विश्वास है, वह निर्भ्रान्त है।

मानववाद यूनानियों के समय से ही पश्चिमी दर्शन का एक गुण रहा है। यूनानियों ने सामाजिक परिस्थितियों और स्वयंसिद्ध प्रमाणों पर ज़ोर दिया था। मार्क्सवादी इसी धरती पर एक पूर्ण समाज की स्थापना करना चाहते हैं। औद्योगिक क्रान्ति के श्रमिकवर्ग पर पड़े प्रभाव—बहुत कम वेतन, बच्चों और स्त्रियों से काम, अत्यधिक जनसंख्यावाली गन्दी बस्तियां, पारिवारिक जीवन का विनाश—के विरुद्ध मार्क्सवादी आवाज़ बुलन्द करते हैं। सामाजिक न्याय के नाम पर वे पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना करते हैं। लेनिन का कथन है कि एक भी पीड़ित बच्चे की चीख हमारी दुनिया के प्रति एक धिक्कार है।

साम्यवाद मानव की केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ही मांग नहीं

करता वरन् उच्च स्थिति, समानता, आधिपत्य से मुक्ति, राजनीतिक अथवा आर्थिक शोषण से मुक्ति जैसी मानवीय आकांक्षाओं की मांग भी करता है। मार्क्स एक नये मानव की, एक सच्चे मानवीय मानव की बात सोचते हैं, जिसकी सत्ता पहले कभी नहीं थी और जो आत्मविरक्ति से मुक्त होगा। अपने दावे के अनुसार साम्यवाद प्रत्येक मनुष्य की, जो आज निराश और कुंठाग्रस्त है, गंभीरतम आकांक्षाओं की पूर्ति का अवसर प्रदान करता है। मानवीय प्रकृति में सबसे अच्छा उद्देश्य है इस तुच्छ नश्वर व्यक्तिगत जीवन को, जिसमें अनश्वर आध्यात्मिकता मौजूद है, किसी ऐसे ऊंचे काम में लगा दिया जाय, जिसकी कल्पना तक धर्म के ह्रास और भौतिकवाद के उदय के पश्चात् कोई मानस न कर सका हो। यह आदर्श है पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना का, मानवजाति को ऊंचा उठाने का। अपने एक मानवीय क्षण में मार्क्स ने एक अनागत समाजवादी समाज का स्वप्न देखा था जहां "विभाजित मानव के स्थान पर पूर्णतः विकसित व्यक्ति होगा, ऐसा व्यक्ति जिसके लिए विभिन्न सामाजिक कार्य सक्रियता के ही रूप होंगे। मनुष्य मछली मार सकेंगे, शिकार खेल सकेंगे या साहित्यिक आलोचना करेंगे और इसके लिए उन्हें पेशेवर मछलीमार, शिकारी या आलोचक बनने की आवश्यकता न होगी।"

इतिहास में कोई नई बात नहीं है कि एक मिशनरी उद्देश्य तार्किकता के फलस्वरूप किस प्रकार आक्रामक प्रचार में परिवर्तित हो जाता है। "तुम सम्पूर्ण संसार में जाओ और प्रत्येक प्राणी को इंजीलों की शिक्षा दो।" ऐसा लगता है कि साम्यवाद 'धर्मनिरपेक्ष' ईसाईधर्म है।

प्रतिकूलता नियम के अनुसार प्रतिकूलताएं साथ-साथ निर्वाह नहीं कर सकतीं। साम्यवादियों और असाम्यवादियों का संघर्ष एथेन्स और स्पार्टा, रोम और कार्थेज, यहूदियों और गैरयहूदियों, यूनानियों और बर्बरों, ईसाइयों और मूर्तिपूजकों, प्रोटेस्टैंटों और कैथलिकों के संघर्ष जैसा ही है। आज यह संघर्ष संसदीय जनतंत्र और जनता के जनतंत्र के बीच है। यह दशा 'यह या वह'-दर्शन के कारण है। इससे संसार दो खेमों में विभाजित हो गया है—प्रकाश का साम्राज्य और अंधकार का साम्राज्य। धर्मोन्मत्त व्यक्ति का मस्तिष्क अंधकारमय और हृदय कठोर होता है तथा वह अपने शत्रु को विनष्ट कर डालना चाहता है। अपने विरोधियों को नास्तिक घोषित करने से एक प्रकार के नैतिक सशस्त्रीकरण का आभास होता है। पश्चिमी मानव की मानसिक रचना में विभाजन-प्रवृत्ति एक आवश्यक तत्त्व रहा है। 'द ब्रदर्स करामज़ोव' में दस्तायवस्की का एक पात्र कहता है: "धार्मिक समाज स्थापित करने की यह लालसा आदिकाल से प्रत्येक मानव और सम्पूर्ण मानवता के लिए शापवत् है।......अपने देवताओं को ताक में रखकर, आओ और हमारे देव-

ताओं की पूजा करो वरना हम तुम्हें और तुम्हारे देवताओं, सबको मार डालेंगे। और यही क्रम दुनिया के अन्त तक, यहां तक कि जब देवता भी पृथ्वी से गायब हो जायंगे, चलता जायगा।"

जब तक धार्मिक सिद्धान्त और उनके अधिकृत व्याख्याकार रहेंगे तब तक नास्तिकता भी रहेगी और नास्तिक दंडित भी किये जाते रहेंगे। धार्मिक सिद्धान्तों को अन्तिम और निर्भ्रान्त सत्यों का प्रकाशन मान लेने पर सैद्धान्तिक मतभेदों और शोध की विधियों से मुक्ति संभव नहीं है। ईसाईधर्म की प्रारम्भिक शताब्दियों में सात समितियां शुद्ध सिद्धान्त का निरूपण करने और नास्तिकता को दंडित करने के उद्देश्य से बैठी थीं।

तथाकथित अपराधियों की पाप-स्वीकृति और कठोरतम दंडों की मांग की बातें हमने अक्सर सुनी हैं। प्रारम्भिक ईसाई चर्च में पाप-स्वीकारोक्तियों और पश्चात्ताप के उदाहरण हैं। रूसी नागरिकों की आत्मा की धार्मिक प्रवृत्ति का ध्यान रखें तो हमें आश्चर्य नहीं होगा कि वे राज्य के प्रति अपने अपराधों को स्वीकार कर लेते हैं।

पश्चिम मुख्यतः (यद्यपि एकान्ततः नहीं) वैज्ञानिक विवेक, मानववाद, मिशनरी प्रचार और संसार को दो विरोधी खेमों में बांटने पर ज़ोर देता है। साम्यवाद इन्हीं बातों को और बढ़ा देता है।

कार्ल मार्क्स के उपदेशों से सम्बन्धित अपनी कृतियों[1] में लेनिन ने लिखा है कि मार्क्स "अपूर्व मेधावी पुरुष थे जिन्होंने मानवता के तीन सर्वाधिक उन्नत देशों का प्रतिनिधित्व करनेवाली उन्नीसवीं शताब्दी की तीन प्रमुख विचारधाराओं का आगे बढ़ाया और परिसमाप्ति तक पहुंचाया। ये तीन धाराएं थीं : परम्परावादी जर्मन दर्शन, परम्परावादी अंग्रेज़ी राजनीतिक अर्थशास्त्र और फ्रांसीसी क्रान्तिकारी सिद्धान्त। सहित फ्रांसीसी समाजवाद।"

साम्यवाद स्वयं तो पश्चिमी दर्शन का परिणाम है ही, उसका प्रसार भी पश्चिमी राजधानियों—बर्लिन, पेरिस, जेनेवा—में प्रशिक्षित नेताओं द्वारा हुआ है। प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मन सरकार ने भविष्य के रूस को एक रेल के डिब्बे में रखकर मुहरबन्द करके विस्फोट के लिए तत्कालीन फिनलैण्ड के स्टेशन पेत्रोग्राद रवाना कर दिया था।[2] अतः साम्यवाद पूर्वीय सिद्धान्त नहीं है, यद्यपि उसका प्रसार

---

१. १९१४।

२. 'ब्रिटिश फॉरेन आफ़िस' का विश्वास था कि बोलशेविक लोग साम्राज्यवादी जर्मनी के वेतनभोगी एजेण्ट थे और 'बोलशेविकवाद' ऐसा 'आन्दोलन था जिसे जर्मनी ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए बढ़ावा दिया था।'

अब पूर्व में हो रहा है।[1]

यह मान लेना गलत है कि पश्चिम की परम्परा के अनुकूल सरकार केवल संसदीय प्रजातंत्र हो सकती है। इससे यही ज़ाहिर होगा कि हम यूनान, मध्ययुगीन इटली के नगर-राज्यों की निरंकुशता से लेकर अपने युग की तानाशाही को भूल बैठे हैं। पश्चिम की विरासत में सभी प्रकार की सरकारें शामिल हैं।

यह सोचना गलत है कि यदि साम्यवादी देश ईसाई-धर्म को स्वीकार कर लें, तो युद्ध नहीं होंगे। कॉन्स्टैंटाइन के समय में रोम-साम्राज्य ने ईसाई-धर्म स्वीकार कर लिया था, किन्तु अपनी समाप्ति तक वह युद्धरत रहा। इतिहास का साक्ष्य नहीं है कि ईसाई राज्य दूसरों से कम युद्धप्रिय हैं।

निस्संदेह संसदीय प्रजातंत्र सरकार का सर्वाधिक सभ्य रूप है। इसमें हम शान्तिपूर्ण उपायों से शीघ्र और क्रान्तिकारी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं। प्रजातंत्र में विश्वास करने पर हमारी ज़िम्मेदारी हो जाती है कि हम राष्ट्रों के बीच सामाजिक न्याय स्थापित करें और अन्य राष्ट्रों को प्रजातांत्रिक अधिकार प्राप्त करने में सहायक हों। पक्षपातहीन प्रजातंत्र का नारा लगाना आसान है, उसका पालन करना कठिन। यदि प्रजातांत्रिक देशों में उद्देश्य के प्रति ईमानदारी और आस्था का उत्साह पदा हो जाय, तो वे शोषित राष्ट्रों को स्वतंत्र कर देंगे, जातीय भेदभाव मिटाने का प्रयत्न करेंगे और पिछड़े हुए देशों की आर्थिक प्रगति में सहायक होंगे। यदि संसार के प्रजातांत्रिक राष्ट्रों की प्रजातंत्र के प्रति दृढ़ आस्था स्थापित हो सके तो प्रजातांत्रिक राष्ट्रों का विरोध कम हो जाएगा। औपनिवेशिक देशों के अरबों निवासियों और संसार-भर के करोड़ों कामगारों को साम्यवादी व्यवस्था में सामाजिक समानता, राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक विशेषाधिकार के उन्मूलन की संभावनाएं दीखती हैं। क्या ये सारी बातें ही प्र तं का उद्देश्य नहीं हैं ?

आवश्यकता है प्रजातंत्र के प्रति इतनी गहरी आस्था की कि आवश्यकता पड़ने पर अपनी बलि देने से भी हिचक न हो। हमें जातीय श्रेष्ठता की भावना को त्याग देना चाहिए और दूसरे देशों में होनेवाले जातिगत अत्याचारों को क्षमा न करना

---

१. प्रोफेसर हालेकी ने अपनी कृति 'द लिमिट्स ऐंड डिवीजन्स ऑफ़ यूरोपियन हिस्ट्री' में रूस को यूरोप से एकदम निकाल बाहर करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है : "हम पीटर प्रथम से निकोलस द्वितीय तक के साम्राज्य के कम या अधिक यूरोपीय स्वभाव के बारे में चाहे जो कुछ सोचें, नवम्बर १९१७ में जनमी 'लाल ज़ारशाही'—जिसने उसी वर्ष के मार्च मास में, पश्चिमीकरण की दिशा में यथार्थ किन्तु व्यर्थ प्रयास किया था—यदि यूरोप-विरोधी नहीं तो कम से कम अ-यूरोपीय थी और है।"

चाहिए वरन् निन्दनीय ठहराना चाहिए। हमें दूसरे राष्ट्रों के निवासियों से समता के स्तर पर मिलने को तैयार रहना चाहिए, चाहे वे किसी भी जाति के हों और उनकी त्वचा का रंग कुछ भी हो। अपनी जनता का सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर ऊंचा उठाने के लिए यत्नशील सभी देशों की सहायता करने को हमें तैयार रहना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करना आवश्यक है। संसार की युद्धश्रान्त जनता यह अनुभव नहीं करना चाहती कि राष्ट्रों के बीच शान्ति और मित्रता की आशा शेष नहीं रह गई है

हम नहीं कह सकते कि साम्यवादी राज्य कामगारों के स्वर्ग हैं, जहां हर प्रकार के भेदभाव और वर्गीय विशेषाधिकारों का उन्मूलन हो चुका है। इन राज्यों में सम्पूर्ण सत्ता एक छोटे-से दल के हाथ में रहती है और दल का प्रभुत्व लगभग असीम हो जाता है। उनकी नीति का पालन प्रशासनिक नौकरशाही द्वारा होता है। दल का नेता हर व्यक्ति के लिए हर बात का निर्णय करता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मानव-जीवन का प्रस्फुटन भी कठोर नियंत्रण में होता है। यदि किसी देश के वासी इस प्रकार शासित होने को तैयार हैं तो जब तक वे दूसरों के जीवनक्रम में बाधक नहीं बनते, हमें उनके साथ मित्रता का ही व्यवहार करना चाहिए। हमें एक ऐसी विश्वव्यवस्था कायम करनी चाहिए, जिसमें युद्ध, एक समाजव्यवस्था को दूसरी से श्रेष्ठ मानने की भावना, वर्गभेद और निरंकुशता न हो। हमें एक संयुक्त संविधान बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, जिसमें सभी मानवीय समस्याओं के सुलझाने में सभी देशों के वासी समुचित भाग ले सकें।

हम साम्यवादी देशों के साथ सम्बन्ध नहीं बना पा रहे हैं। आपसी सम्बन्ध न स्थापित होने से हम अकेले पड़ जाते हैं और अकेलापन जन्मदाता है भय, संदेह और घृणा का। आज के रोगग्रस्त संसार में सबसे बड़ा रोग है छोटे-छोटे क्षेत्रों की अपनी-अपनी राजनीति। जिस समाज ने हवा में उड़ना और परमाणु को तोड़ना सीख लिया है, उसमें मानवीय एकता की स्थापना का प्रयत्न करना हमारा ही कर्तव्य है।

पहले समय में, दुनिया में अनेक समाज थे जो अपने-अपने ढंग से धीरे-धीरे विकसित हो रहे थे। इन विभिन्न प्रयोगों के फलस्वरूप दर्शन, कला और विज्ञान की अमूल्य विरासत हमें मिली है। अब दुनिया सिकुड़कर एक समाज में बदलती जा रही है; दोनों पक्ष एक-दूसरे के विरोध पर कटिबद्ध हैं, इसके बावजूद यह सही है। यहां तक कि दोनों विरोधी व्यवस्थाओं में भी काफी समानता है और वे एक ही दिशा में बढ़ रही हैं। रूसी व्यवस्था की शक्ति का स्रोत है—टेक्नॉलॉजी। वह अपना व्यक्तित्व, सामान्य प्रकृति और विवेक बनाये रखने को उत्सुक है और उसे

मालूम है कि पश्चिमी प्रजातंत्रों के सामने वह टेक्नॉलॉजी पर काबू करने के बाद ही ठहर सकेगी। दस वर्ष पूर्व जब ८ मई, १९४५ को जर्मनी ने आत्मसमर्पण किया था, 'लन्दन टाइम्स' ने लिखा था : "अहंकार, क्रूरता और शक्ति की लालसा ने राष्ट्रों के करोड़ों पीड़ित इन्सानों पर जिस राक्षसी शासन का जुआ लाद दिया था, उसका तिरस्कारमय विनाश इस प्रकार हो गया, और ठीक ही हुआ।" उस युद्ध में दुनिया ने महसूस कर लिया था कि विवेक द्वारा अनियंत्रित वैज्ञानिक ज्ञान ने मनुष्य को विनाश की कितनी भयानक शक्ति प्रदान की है। सामूहिक विनाश के शस्त्रों की भयप्रद वृद्धि को नज़र में रखते हुए हम इस बात को भुला नहीं सकते कि मानव-बंधुत्व, राष्ट्रों की एकता और शान्ति की अखंडता अत्यावश्यक सत्य हैं, सामान्य वार्ताएं मात्र नहीं। किन्तु हमारे भीतर भय, घृणा, राष्ट्रीय अभिमान और अपनी-अपनी विचारधारा के प्रति अन्धविश्वास उपस्थित हैं। ये विवेकपूर्ण स्थितियां नहीं वरन् भावनात्मक प्रवृत्तियां हैं जो सदैव मानव-व्यवहार को प्रभावित करती हैं। हर संघर्ष के अवसर पर उतर आनेवाली इस प्रवृत्ति को हमें त्यागना होगा कि हमारे शत्रु घृणित, अप्राकृतिक दैत्य हैं जिनका समूल विनाश नहीं, तो कम से कम पराजय विश्वशान्ति के लिए परमावश्यक है।

वर्तमान प्रचलित प्रणालियों में समान दोष हैं कि वे यांत्रिकता और तकनीक की सर्वशक्तिमत्ता और भौतिकवाद की प्रवृत्ति पर विश्वास करते हैं। दोनों ही शक्ति-पूजा को स्वयं में एक उद्देश्य मानते हैं, राज्य की आवश्यकताओं के सामने व्यक्ति को दबा देते हैं और राष्ट्र-राज्य के उपासक हैं। राज्य के अत्याचार से जनता पीड़ित होती है, फिर चाहे यह अत्याचार फौजी हिंसा का रूप ग्रहण करे, चाहे वाणिज्य-सम्बन्धी लोभ का। राष्ट्र-राज्य की पूजा यूनानियों से मिली विरासत है; इसने यूनानियों का नाश किया और अब हम भी उसी रास्ते पर बढ़ रहे हैं। चहार-दीवारियों से घिरे जिन बाड़ों में हम रहते हैं वे राष्ट्र नहीं, एकता की आकांक्षिणी दुनिया के पागलखाने हैं।

मानव जब मानवीय शक्ति की पूजा करने लगते हैं और स्वयं को देवत्व का अधिकारी समझ लेते हैं, तभी प्रतिकार के अधिकारी बन जाते हैं। आज का शीत-युद्ध किसी विशेष देश के साथ नहीं है। यह दो राष्ट्रों के बीच का संघर्ष नहीं है, मानव की आत्मा पर अधिकार करने के दो इच्छुकों के बीच का संघर्ष है। भौतिकवाद की मूल प्रवृत्ति, जिससे संघर्ष करने को हमसे कहा जाता है, वास्तव में हमारे लिए अनजान नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण दुनिया के अनुरूप ही मालूम पड़ती है। इस प्रवृत्ति का विरोध करनेवाली प्रवृत्ति का पता दोनों दलों को फिर लगाना है। हम कुछ सिद्धान्तों को मानने का दावा करते हैं और कहते हैं कि हमारे शत्रुओं के पास ये सिद्धान्त नहीं

हैं; किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि शत्रुओं को मनवाने के अतिरिक्त इन सिद्धान्तों को स्वयं भी मानें। यदि हमारा उद्देश्य मानवात्मा की उच्चतर संभावनाओं का उद्देश्य है, तो उसे हमारी सामाजिक संस्थाओं में भी सम्मिलित होना चाहिए।

हमें याद रखना चाहिए कि मानव और उनकी संस्थाएं अंशतः अच्छी और अंशतः बुरी हैं, इसलिए अंशतः अच्छे और अंशतः बुरे उद्देश्यों के लिए ही उनमें संघर्ष होता है। केवल शक्ति को ऊंचा समझने और घृणा की प्रवृत्ति को उत्साहित करनेवाले लोग यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का अंश मौजूद है। अपने शत्रुओं में मानव को देख पाने की असमर्थता का अर्थ विश्वशान्ति की स्थापना नहीं, असीम विनाशकारी युद्ध है।

सह-अस्तित्व की बात करते हैं तो हम पश्चिमी 'यह या वह' से अलग हट जाते हैं। हमारा विश्वास है कि दो व्यवस्थाएं एक-दूसरे को प्रभावित करती हुई साथ-साथ रह सकती हैं। सह-अस्तित्व का अर्थ समझौता या समर्पण नहीं है। इसका अर्थ है एक-दूसरे को समझना, सुधार करना। कोई भी सामाजिक व्यवस्था स्थिर नहीं है, कोई भी नियम अपरिवर्तनशील नहीं है, कोई भी संविधान स्थायी नहीं।

स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् सोवियत व्यवस्था की कठोरता में ढिलाई आई है। यात्रा-सम्बन्धी प्रतिबन्धों में परिवर्तन हुआ है और रूस में जनता को सुविधाएं मिली हैं। कोरिया और इण्डोचीन के संघर्षों को युद्ध का रूप नहीं धारण करने दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में भी सोवियत रवैया पहले की अपेक्षा अधिक संयत और सीमित रहा है। पश्चिम के साथ समझौता करने की इच्छा स्पष्ट है। समुचित समय, सहिष्णुता और समझदारी से शान्तिमय समझौता हो सकेगा, ऐसा सोचना यथार्थ से परे नहीं। शिक्षा के प्रसार और लोगों की मांगों में वृद्धि का आवश्यक परिणाम है सहिष्णुता की प्रक्रिया। साम्यवादी देशों के लिए भी यही सच है। यदि इस प्रक्रिया को रोका गया, तो सभी एकदलीय शासनों की भांति वे भी अपने आन्तरिक विरोधों के बल पर ही नष्ट हो जाएंगे।

११ अक्तूबर १९४४ को सर विन्स्टन चर्चिल ने मास्को में लिखा था: "हमें लगता है कि तटस्थ दृष्टिकोण और एक विशाल पैमाना अपनाने पर हमारी व्यवस्थाओं के बीच का अन्तर कम हो जाएगा, और अधिकाधिक लोगों के जीवन को अधिक समृद्धिशाली और सुखमय बनाने का महान सम्मिलित आधार हर वर्ष बढ़ता जा रहा है। पचास साल के लिए शांति स्थापित हो जाए तो ये अन्तर जो आज दुनिया को

इतना अधिक परेशान कर सकते हैं, विद्वानों के विवादों के विषयमात्र रह जाएंगे।"[1] दस साल बाद, १२ जुलाई, १६५४ को उन्होंने 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' में इसी दृष्टिकोण को दोहराया : "मुझे विश्वास है कि (शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की) इस नीति को अपनाने से, कुछ वर्षों बाद, संसार को आज विभाजित करनेवाली समस्याओं का समाधान मिल जायगा—या अनेक समस्याओं की तरह वे स्वयं सुलझ जायंगी—और वह भी इस प्रकार कि मानवजाति का सामूहिक विनाश नहीं होगा और समय, मानवप्रकृति तथा ईश्वर की कृपा से हम मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे।"

यही समय है जब हमें निर्णय करना है, और ज़्यादा अच्छा होगा कि हम 'ईश्वर, मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूं कि मैं औरों जैसा नहीं हूं' के स्थान पर प्रार्थना करें : 'हे ईश्वर, मुझ पापी पर कृपा करो।' स्वतंत्र (लिबरल) और साम्यवादी दोनों व्यवस्थाओं में भीषण दुर्गुण हैं और यह संभव नहीं है कि सम्पूर्ण मानवता किसी एक को स्वीकार कर ले। हमारे लिए आवश्यक है कि हम अपनी मानवता को सुदृढ़ करें, अपने विवेक को नवीनता प्रदान करें, महसूस करें कि जिस विनाशकारी दुःस्वप्न के चंगुल में हम छटपटा रहे हैं वह यथार्थ नहीं है। हमारी वर्तमान यन्त्रणा एक नये संसार के जन्म से पहले की पीड़ा है। इससे अधिक निश्चित और कुछ नहीं है कि इस पृथ्वी की अनेक अन्य सभ्यताओं के समान इस सभ्यता का भी अंत होगा। कितने समय तक यह सभ्यता बनी रहेगी, बताना असंभव है, जिस प्रकार आदमी की उम्र की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। हमारे ही प्रयत्नों पर निर्भर है कि यह सभ्यता शताब्दियों तक रहे या समय से पूर्व पतित होकर अकालमृत्यु को प्राप्त हो। जैविक बुढ़ापे और मृत्यु की अनिवार्यता जैसी अंधी अनिवार्यता सभ्यताओं के साथ नहीं होती। हमारा प्रयास ढीला पड़ गया, अनुशासन कम हो गया, हमारा आन्तरिक ओज विनष्ट हो गया, तो हमारा अन्त हो जाएगा। निर्णय होगा 'विक्षिप्तावस्था में आत्महत्या'।

जिस युग में हम रहते हैं उसकी प्रवृत्तियों को ग्रहण करने, उस युग की महत्ता समझने, हमारे लिए प्रस्तुत उद्देश्यों को महसूस करने और उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होने पर ही जीवन का कोई अर्थ है। हम पूर्वनिश्चयवाद के असहाय औज़ार नहीं हैं। इतिहास अप्रत्याशित की कहानी है। इतिहास में कोई रैखिक विकास नहीं होता, और मानवता अपने अतीत को त्यागकर नवीन हो जाती है, और साथ ही इसमें किसी नवीन और अज्ञात का विकास भी होता रहता है। आज हमें अपने ही मस्तिष्कों और हृदयों के बल पर नये सिरे से प्रारंभ करना है।

---

१. 'ट्रायम्फ़ एण्ड ट्रैजेडी', पृष्ठ २०३।

३. टेक्नॉलॉजी : स्वामी नहीं, सेवक

हमारे मन में यह मानने की भावना उठती है कि टेक्नॉलॉजी की प्रगति ही वास्तविक प्रगति है और भौतिक सफलता ही सभ्यता का मापदंड है। यदि पूर्वीय देशों के निवासी मशीनों और तकनीक के प्रति आकर्षित हों और पश्चिमी राष्ट्रों के समान उनका उपयोग विशाल औद्योगिक संस्थानों या सैनिक संस्थाओं की स्थापना में करने लगें तो वे शक्ति-राजनीति में उलझ जाएंगे और मृत्यु का खतरा मोल ले लेंगे। वैज्ञानिक और टेक्नॉलॉजिकल सभ्यता में अच्छे अवसर और अच्छी संभावनाएं हैं और साथ ही बड़े-बड़े खतरे और लालच भी हैं। मशीनों का प्रभुत्व स्थापित हो गया तो हमारी सम्पूर्ण प्रगति व्यर्थ हो जाएगी। हमारे सामने की समस्या सार्वभौम है। पूर्व और पश्चिम दोनों के सामने एक ही खतरा है और दोनों का भविष्य समान है। विज्ञान और टेक्नॉलॉजी न अच्छे हैं, न बुरे। आवश्यकता उन्हें निषिद्ध करने की नहीं वरन् नियंत्रित रखने और उचित स्थान पर स्थापित करने की है। वे प्रभु हो जायं तभी खतरा है।

उस सुदूर धुंधले अतीत से लेकर, जब मानव ने पहला पत्थर का औज़ार बनाया था, सारे युगों को पार करते हुए आज तक—जब मानव ने सारे संसार पर रेडियो का जाल बिछा दिया है और आकाश से बम गिराकर दुनियाभर के शहरों का विनाश करने की योजनाएं बना डाली हैं—मानवजीवन की यात्रा भौतिक विजय और यांत्रिक उपलब्धियों की कहानी है। कलम, कूंची, पहिया, फावड़ा, हल, नाव, 'लीवर', घिर्री, इंजन, अन्तर्ज्वलन इंजन क्रमिक विकास के अंग हैं। सैद्धान्तिक रूप में नाभिकीय भंजन की क्रिया अग्नि के आविष्कार से भिन्न नहीं है। मशीन पदार्थ पर मस्तिष्क की विजय की प्रतीक है। वह स्वयं अपने में ही उद्देश्य नहीं। वह है एक उपकरण, जिसका आविष्कार मानव ने अपने आदर्शों को मूर्तरूप देने के लिए किया था। हमारे आदर्श ही गलत हों तो इसकी ज़िम्मेदारी हमपर है, मशीनों पर नहीं। हमारे आदर्श सही हों तो मशीनों का उपयोग अन्याय के निवारण, मानवता की दशा को सुधारने और आत्मा की परिपक्वता प्राप्त करने के प्रयत्न में सहायक हो सकता है। मोटरकार में ऐसी कोई बात नहीं है कि हम उसे तेज़ी से चलाकर पैदल आदमी को मार डालें। विमान में ऐसी कोई बात नहीं है जो हमें अपने सहयोगियों पर बम गिराने को बाध्य कर दे। मशीनों में स्वयं कोई बुराई नहीं। उनके बुरा साबित हो जाने का कारण यही है कि हम स्वयं दुष्ट हैं।

कुछ लोगों का कथन है कि दैनिक जीवन में मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग

ही हमारी परिस्थिति का खतरा है। ऐसा कहकर वे वास्तव में आधुनिक सभ्यता की अत्यधिक तेज़ रफ्तार, जीने की प्रतियोगिता से सम्बन्धित चिन्ता, जीवन की अनिश्चितता, अनेक कामगारों के जीवन की शुष्कता और एकरसता—जिन्हें घंटे पर घंटे एक ही तरह के काम मशीनों की तरह करने पड़ते हैं—हमारे मनोरंजनों की उत्तेजक प्रवृत्ति, और बेहद तेज़ रफ्तार व कान के पर्दे फाड़नेवाली आवाज़ों के प्रति लगाव की ओर इशारा करते हैं।

श्रम की बचत करनेवाली पुरानी तरकीबों का उपभोग मानव की शक्ति के भीतर ही किया जाता था। मानवीय नियंत्रण से मुक्त हो जाने के बाद टेक्नॉलॉजी अपना अर्थ खो बैठती है और उद्देश्य पर उपायों की विजय हो जाती है। औद्योगिक क्रान्ति से पहले, आदमी मशीनों को नियंत्रित करके वस्तुएं तैयार करते थे। वे अपनी कुशलता का प्रयोग करने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे। अपने काम को वे धर्म के समतुल्य समझते थे। ऐसे काम के बारे में हीगेल का कथन है: "नृत्य के अङ्ग-चालन से लेकर स्थापत्यकला की विस्मयजनक विशालकाय कृतियों तक ...ये सारे काम यज्ञ की श्रेणी में आते हैं...क्रिया स्वयं भेंट है; इस उपलब्धि में भेंट...जो केवल एक बाह्य वस्तु न रहकर आन्तरिक वस्तु हो जाती है...एक आध्यात्मिक क्रियाशीलता है और यह प्रयास, आत्मचेतनता को नकार कर अन्तर्वासी और कल्पनावासी उद्देश्य की पूर्ति करता है तथा बाह्य जगत् के लिए प्रस्तुत करता है।"

टेक्नॉलॉजी की सभ्यता में, जहां हम सम्पूर्ण के एक अंश पर ही ध्यान देते हैं, हमारे काम को आत्मा का संस्पर्श नहीं मिलता। उत्पादन की रफ्तार बढ़ाने की होड़ में, कारखानों में काम को इतने छोटे-छोटे अंशों में बांट दिया जाता है कि कुशलता अथवा बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इस पुनरावृत्तिवाले काम से करोड़ों कामगार अब थक और एकरसता में डूब चुके हैं। कामगार अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्ति खो देते हैं और चेतना की सतह पर जीवित रहते हैं। हम मानव के सर्वश्रेष्ठ अंश का प्रकाशन नहीं करते। उच्चतर मानदंडों के लिए उत्सुक इस युग में हम सरल और पवित्र जीवन के अनिवार्य मूल्य को नज़रअन्दाज़ कर रहे हैं। किसी व्यक्ति-विशेष का महत्त्व उसकी सम्पत्ति से नहीं, बल्कि जीवन-यापन के ढंग से आंका जाता है। भौतिक आवश्यकताओं और सांसारिक आकांक्षाओं के संदर्भ में भारत ने सन्तोष और आत्मसंयम के मूल्य पर ज़ोर दिया है। इस टेक्नॉलॉजी-सभ्यता में उत्पादक या उपभोक्ता किसी भी हैसियत से खो जानेवाला आदमी व्यक्तित्वहीन हो जाता है, अपनी जड़ें खो बैठता है, अपने स्वाभाविक संदर्भ से अलग जा पहुंचता है, और मानो शून्य व्योम में फेंक दिया जाता है।

व्यक्ति के असीम मूल्य, मानव के अभिमान और अधिकारों और आत्मा की स्वाधीनता को टेक्नॉलॉजी के युग में संरक्षित रखना आसान काम नहीं है। आस्था के पुनर्जीवन—जिसका अर्थ है मानव की गहराइयों में आत्मा की परिपूर्ति और जिसमें अपने से ऊपर उठकर मानव अपनी सत्ता के स्रोत से जुड़ जाता है—से ही यह संभव है।

दुर्भाग्यवश, विज्ञान और टेक्नॉलॉजी की उपलब्धियों से आकृष्ट हमारे युग के कुछ नेता मानव को एक विशुद्ध यांत्रिक, भौतिक और स्वयंचालित इच्छाओं से निर्मित प्राणी समझते हैं। वे मानव की भौतिक प्रवृत्तियों पर तो ज़ोर देते हैं, किन्तु उसके अन्तस् में उपस्थित उच्चतर पवित्रता को भूले-से लगते हैं। हमारे युग के अनेक लोगों का रोग है आस्थाहीनता। वे आध्यात्मिक रूप से विस्थापित हैं, उनकी सांस्कृतिक जड़ें उखड़ चुकी हैं। वे परम्पराहीन हैं। और चूंकि उनकी जड़ें कहीं नहीं हैं, इसलिए वे गहरा अकेलापन महसूस करते हैं और फलतः कहीं भी मैत्री की तलाश करते हैं। वे फिरकेपरस्त बन जाते हैं; अन्तर केवल यही है कि आधुनिक फिरका किसी भी देश से बड़ा है। यह महाद्वीपों में फैला है। पृथ्वी पर स्वर्ग के नये मसीहा उन सभी निराश्रितों का शोषण कर रहे हैं, जो उद्धत हो चुके हैं या जिनमें शून्यवाद की अपरिमित निराशा घर कर चुकी है।

अपने भौतिक वातावरण को काबू में रखने की हमारी असीमित क्षमता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है स्वयं अपने और अपने सहयोगियों के साथ हमारे सम्बन्ध। विवेक की उपस्थिति हमारी मानवता की गारंटी नहीं है। मानव बनने के लिए हमें विवेक के अतिरिक्त किसी और वस्तु की आवश्यकता है।

विज्ञान और टेक्नॉलॉजी को ही नई सभ्यता का आधार नहीं बनाया जा सकता। वे एक सुदृढ़ नींव का निर्माण नहीं कर सकते। संभाव्य विनाश को दूर करने के लिए आवश्यक है कि हम किसी नये आधार पर जीना सीखें। हमें निश्चय ही आध्यात्मिकता की खोज करनी होगी, मानवीय व्यक्तित्व का समादर करना होगा, सभी धार्मिक परम्पराओं में व्याप्त पावनता की भावना को पाना होगा और उनके उपयोग से एक नये मानव का निर्माण करना होगा, जो इस नवीन अनुभूति के साथ अपने आविष्कृत उपकरणों का प्रयोग कर सके कि वह प्रकृति को नियंत्रित करने से अधिक महान कार्यों की सम्पूर्ति का क्षमतावान है। मानव को मानव की, उसके भीतर की चेतना की सेवा में लौट आना चाहिए। मानवीय चेतना का ध्यान रखना अत्यावश्यक है।[1]

---

१. सेंट पॉल के अनुसार, मानव 'चेतना और आत्मा और शरीर' है। प्रथम थेसालोनियन्स, V. २३।

४. रचनात्मक धर्म

एक ओर यूरोप पर नये खतरे मंडरा रहे हैं और दूसरी ओर पश्चिमी विचारों और तकनीकी कुशलता के प्रभाव से एशिया और अफ्रीका का रूप बदलता जा रहा है। दुनिया अधिकाधिक परस्परसम्बद्ध होती जा रही है और संस्कृतियों व सभ्यताओं का सम्मिलन हो रहा है। कोई विशेष जीवन-पद्धति ही एकमात्र उपाय है, ऐसा सोचना हद दरजे की आत्मकेन्द्रीयता है । आवश्यक नहीं कि लोगों की विभिन्न मेधाओं को एक समान स्तर पर ला खड़ा किया जाय। वे विभिन्न गुणों को उजागर करती हैं। हमारा कार्य एक जीवन-पद्धति के स्थान पर दूसरी को ला खड़ा करना नहीं, बल्कि प्रत्येक से उसका अंश प्राप्त करना है।

पूर्व और पश्चिम में आधारभूत अन्तर नहीं है। हममें से प्रत्येक पूर्वीय भी है और पश्चिमी भी। पूर्व और पश्चिम दो ऐतिहासिक या भौगोलिक धारणाएं नहीं हैं। वे हर युग में हर मानव में अन्तर्हित दो संभावनाएं हैं, मानवीय चेतना के दो परिचालन हैं। मनुष्य के स्वभाव में, उसकी वैज्ञानिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के बीच, तनातनी है। यह तनाव या हलचल विपत्ति नहीं है, चुनौती है, संभावना है।

हममें से प्रत्येक धार्मिक और बौद्धिक दोनों हैं। पूर्व का महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक योगदान है और पश्चिम की उत्कृष्ट धार्मिक उपलब्धियां। अधिक से अधिक अंतर केवल ज़ोर देने पर है। बुद्धि और चेतना दोनों ही मानव-प्रकृति के गुण हैं। उनमें अभी सन्तुलन नहीं स्थापित हो पाया है।[१] आज आत्मा के भीतर विचारों और चेतना के बीच एक खाई है। अपने आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अवयवों में सामंजस्य स्थापित हो जाने के बाद ही कोई समाज स्थायी हो पाता है। ये तत्त्व विशृंखल हो गये तो सामाजिक व्यवस्था चकनाचूर हो जाती है।

हमारे युग की आशाजनक और निराशोत्पादक प्रवृत्तियां केवल पूर्व या पश्चिम में नहीं वरन् सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हैं। संसार का ध्येय पूरा होने की सर्वप्रथम शर्त है कि सारे राष्ट्रों का आन्तरिक नवीनीकरण हो। केवल संयुक्त राष्ट्र-संघ या उसकी अन्य संस्थाओं द्वारा ही विश्व-एकता स्थापित नहीं हो सकती। अलग-अलग देशों में ही शान्ति-स्थापना काफी नहीं। हर बात परस्परसम्बद्ध है। पूर्ण शान्ति से ही पूर्ण युद्ध का खतरा टल सकता है। पूर्व का धार्मिक दृष्टि-

---

१. 'हैज़ द चर्च फ़ेल्ड ?' नामक पुस्तक में अपने निबन्ध में एच. जी. वुड ने लिखा है : "गत सौ वर्षों के दौरान अनेक विद्वान, ईमानदार और साहसी ईसाई विचारकों और उपदेशकों की कृतियों के बावजूद, सामान्यतः ईसाई मानस का समुचित समझौता वैज्ञानिक प्रवृत्ति और आधुनिक ज्ञान के साथ नहीं हो पाया है।" पृष्ठ १५३।

कोण है—जिससे पश्चिम भी अपरिचित नहीं—कि मानव, जिसे मूल्यों का समुचित बोध है, पृथ्वी पर ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट मूर्तरूप है। विज्ञान की प्रवृत्ति को गलत समझने से इस दृष्टिकोण को बड़ा धक्का पहुंचा है, जिसकी वजह से आध्यात्मिक जीवन का बौद्धिक विनाश और रचनात्मक शक्तियों का ह्रास हो चुका है।

विभिन्न परम्पराओं के संयोग के फलस्वरूप महान आध्यात्मिक पुनरुत्थान संभव हो जाते हैं। क्लीमेंट के अनुसार, ईसाई-चर्च स्वयं दो धाराओं—हेलेनीय और यहूदी—का संगम है। ईसाई-धर्म के प्रभाव से ध्वस्त हो रहा यूनानी-रोमक संसार एक नये समाज में परिवर्तित हो गया। पृथ्वी की सतह पर सभी प्राणी रहते हैं; स्थान और समय की यह चहारदीवारी सभी प्राणियों के लिए है। यही हमारा भौतिक आधार है और यही सम्पूर्ण मानवता की एकता को संभव करता है। मानवता की एकता अभी तथ्य नहीं है, कर्तव्य है। विचारों और उनकी अधिकाधिक सम्पूर्ति के कारण बौद्धिक एकता की संभावनाएं हैं। किन्तु मानवीय एकता और संयोग की संभावना चेतना के गंभीर उद्घाटन के उज्ज्वल क्षणों में ही है, क्योंकि यही क्षण इतिहास में नवीन उद्भावनाओं को लाते हैं। वे ही विश्व-एकता के लिए मानवीय प्रयास के ध्येय और औचित्य दोनों हैं। हो सकता है कि पूर्व और पश्चिम के संयोग के फलस्वरूप एक आध्यात्मिक पुनर्जागरण हो और एक विश्व-समाज बन सके जो जन्म लेने को छटपटा रहा है।

विश्व की वर्तमान परिस्थितियां, वैज्ञानिक विधि का सार्वभौम स्वीकरण, धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन, विश्व-एकता की चुनौती, इन सबसे सभी धर्मों में धार्मिक रचनात्मकता का आन्दोलन जन्म ले रहा है। विभिन्न धर्मों के प्रगतिशील विचारक एकसाथ मिलकर सत्य और प्रेम द्वारा उत्तम जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। दुनिया आज रूढ़िवादी, संकीर्ण, घिसे हुए धर्मों अथवा प्रकाश से डरनेवाली धर्मोन्मत्तता को नहीं, वरन् एक रचनात्मक आध्यात्मिक धर्म को पाना चाहती है। इस धर्म का विज्ञान की प्रवृत्ति के प्रतिकूल न होना आवश्यक है। इसे मानववादी आदर्शों को प्रोत्साहित करनेवाला और विश्व-एकता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

विज्ञान की ठीक समझ आत्मा के धर्म की सहायक है। विज्ञान स्वयंचालित प्रक्रिया-मात्र नहीं है; और न ऐतिहासिक परिवर्तन का अज्ञात कारण है। विज्ञान का विकास उन लोगों की बुद्धि पर निर्भर है जिनमें ज्ञान, कौशल और मूल्य-बोध है। मानव परमाणु का भंजन कर सकता है, इसीलिए ब्रह्मांड का स्वामी नहीं बन जाता। वह परमाणु का भंजन इसलिए कर सकता है, चूंकि उसके भीतर परमाणु से श्रेष्ठतर कुछ मौजूद है। भौतिक उपलब्धियां तो इस तथ्य की गवाह हैं कि

मानव-चेतना क्या कुछ प्राप्त कर सकती है। इसके अतिरिक्त, ये उपलब्धियां कठोर मानसिक और नैतिक अनुशासन, पक्षपातहीन सत्यनिष्ठा, समर्पण की भावन और रचनात्मक कल्पनाशीलता की सुपरिणाम हैं।

विज्ञान और धर्म का संघर्ष ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण है। बीते ज़माने में वैज्ञानिकों ने धार्मिक और राजनीतिक अत्याचार सहे हैं। ग्यार्दानो ब्रूनो को चिता पर जीवित जला दिया गया था और गैलीलियो को कैद करके फांसी के लिए धमकाया गया था। आज भी, वैज्ञानिकों को राजनीतिक जांच या नैतिक बहिष्कार की धमकियां देकर सत्य कहने से रोका जाता है। नाभिकीय ऊर्जा का स्वागत आज इस रूप में नहीं किया जाता कि प्रकृति पर मानव की विजय में यह एक नये युग का आरंभ है और इसकी शक्तियां मानवता की भलाई के लिए हैं; इसके विपरीत इसे मानवता के लिए नया खतरा समझा जाता है। इसका कारण है रूढ़ राष्ट्रीयतावाद का अमित प्रभाव। वैज्ञानिकों को सारे अत्याचारों का सामना करना चाहिए। उन्हें कटिबद्ध रहना चाहिए कि वे विज्ञान की सचाई को कायम रखेंगे और इसके उचित लाभदायक उपयोगों से इसे नीचे नहीं गिरने देंगे और सभ्यता के अपने ही विनाश के लिए विज्ञान का उपयोग करने से रोकेंगे। सत्य ही ईश्वर है और सत्य की सेवा ही ईश्वर की सेवा है।[1]

धर्म और विज्ञान दोनों प्रकृति की एकता की पुष्टि करते हैं। विज्ञान की केन्द्रीय धारणा ही धर्म का अन्तर्ज्ञान भी है कि प्रकृति बोधगम्य है। प्रकृति की प्रक्रियाओं का अध्ययन करते समय हमें उनकी व्यवस्था और सामंजस्य प्रभावित करते हैं और ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास होता है। सेंट टॉमस का कहना है: "ईश्वर-निर्मित वस्तुओं में हमें—सबसे पहले—ईश्वरीय विवेक की एक झलक मिल सकती है, क्योंकि किसी हद तक उसकी छवि सभी वस्तुओं में मौजूद है।" हमें ईश्वरीय विवेक को अपवादों और अतिकल्पनाओं में नहीं, वरन् प्रकृति की व्यवस्था और स्थिरता, सुन्दरता और सुगढ़ता में देखना चाहिए। ब्रह्मांड का अस्तित्व लगभग छः अरब वर्षों से है, और इस कल्पना-मात्र से कि सम्पूर्ण इतिहास का आरंभ ब्रह्मांड के किसी स्थान पर किसी समय घटित एक अपूर्व घटना से हुआ है, सामान्य मनुष्यों की भी वैज्ञानिक चेतना में तनाव आ जाता है। प्रारंभ से ही ईश्वर पृथ्वी से संयुक्त है।

१. वाल्तेयर ने कहा था : "हमारी श्रद्धा के पात्र हिंसात्मक उपायों से हमारे मानस को गुलाम बनानेवाले नहीं, वरन् मस्तिष्क पर सत्य के बल से छा जानेवाले हैं।" स्पिनोज़ा का कथन है : "विचारों को शस्त्रों द्वारा नहीं, आत्मा की महानता द्वारा विजित किया जाता है।" सत्यमेव जयते नानतम्—सत्य ही विजयी होता है, असत्य नहीं; भारत का यही आदर्श-वाक्य है।

गेटे का कथन है कि फ़ॉस्ट ने मानवीय ज्ञान की सभी शाखाओं का अन्वेषण किया, कोई भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं पाया और सत्य की खोज करता हुआ 'न कुत्रापि' जगह पर जा पहुंचा। वह चिल्ला पड़ता है, "और अब मैं यहां आ पहुंचा हूं। मूर्ख! व्यर्थ ज्ञान अभिशप्त है, और मैं पहले ही जितना बुद्धिमान हूं।" उसका ज्ञान व्यर्थ सिद्ध हो जाता है और खोज निरर्थक। वह निराश हो जाता है। वह एक प्राचीन पुस्तक को खोलता है, और उसकी आंखें सुलेमान की मुहर—एक-दूसरे पर उलटे रखे दो त्रिभुज, जो निम्नतर और उच्चतर, प्रकृति के संयोग के प्रतीक हैं—पर पड़ती हैं। उसमें परिवर्तन होता है और वह चिल्ला पड़ता है, "वाह! हर क्षण कितना नया, ईश्वरीय, गंभीर जीवन प्रत्येक भावना में भरता जा रहा है! मुझे यौवन का उदय फिर महसूस होने लगा है...किसी ईश्वर ने यह चिह्न बनाया था क्या?" पृथ्वी और ईश्वर घुले-मिले हैं।[1] दृश्य जगत् की एक नई समझ उसमें आ जाती है। उसकी यात्रा ने उसे अंधकार में पहुंचा दिया, किन्तु उस क्षण भी उसके समक्ष एक नया प्रकाश ज्योतित हुआ।

विज्ञान प्रयोगसिद्ध है; यह रूढ़िवादी नहीं है, उदार है। जिन धार्मिक सत्यों को स्वीकार करने की आशाएं हमसे की जाती हैं उनमें और अविश्वसनीय रूढ़ियों में बड़ा अन्तर है। धार्मिक सत्यों का आधार है अनुभव—भौतिक संसार का नहीं वरन् धार्मिक यथार्थ का अनुभव। विज्ञान के सिद्धान्त भी अनुभव द्वारा प्रमाणित होते हैं। अनुभव का क्षेत्र केवल ऐन्द्रिक अनुभव या चिन्तनकार्य तक सीमित नहीं है। सामान्येतर घटनाएं और आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि भी अनुभव ही है।

वैज्ञानिक सत्य के समान धार्मिक सत्य को भी अनुभव द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। मानव-स्वभाव-रूपी कच्चे माल को निर्विकारता, नम्रता और प्रेम से पका दिया जाय तो ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। धार्मिक अभ्यासों का उद्देश्य है धार्मिक परिणाम तक पहुंचना। अल्बर्ट श्वीट्ज़र का कथन है: "अकाल्पनिक विवेकयुक्त विचारधारा का अन्त अध्यात्म में होता है।"[2]

पूर्व में धर्म को अनुभव या जीवन की संज्ञा दी गई है। यह विचारधारा अब सभी देशों के धार्मिक लोगों द्वारा अधिकाधिक स्वीकार की जा रही है। आवश्यकता धर्म की नहीं, कार्य की है। 'ईश्वर, ईश्वर' चिल्लानेवाले लोगों

---

१. "अनन्तता का प्रवेश समय में होता है, और समय में ही सारी गतियां होती हैं।...... समय की शर्तों से अनन्तता सीमित नहीं हो जाती, और बार-बार आती रहने के कारण अनन्त है।"—'हरमेटिका' एस्क्लेपियस तृतीय।

२. 'फ़िलॉस्फ़ी ऑफ़ सिविलाइज़ेशन' (१९२३)।

की नहीं, ईश्वरेच्छा का पालन करनेवाले लोगों की आवश्यकता है।[1] ताल्मद का कथन है : "अच्छा हो कि वे मेरा नाम भूल जायं और मेरे आदेशों का पालन करें।" द्वितीय विश्वयुद्ध में विभिन्न धर्मानुयायी पतन की अविश्वसनीय गहराइयों तक जा पहुंचे थे और इस प्रकार प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया था कि हमारे धार्मिक विश्वासों की प्रकृति कितनी सतही है।

परम पिता की आज्ञा मानने के लिए निजी पावनता आवश्यक है। चेतना की लौ प्रत्येक मानवात्मा में जलनी चाहिए। "और परम पिता परमात्मा ने कहा··· मैं तुम्हारे भीतर एक नई चेतना भर दूंगा ; और मैं उनके शरीर से पत्थर का दिल निकालकर हाड़-मांस का दिल रख दूंगा।"[2] सत्य और ईमानदारी, पवित्रता और गंभीरता, दया और क्षमा जैसे गुण निस्पृहता से उत्पन्न होते हैं, और निस्पृहता द्वारा ही आध्यात्मिक परिवर्तन संभव है। जब हमारी लालसाओं और अभिलाषाओं का हमपर शासन है, हम अपने पड़ौसी का अपमान करते रहेंगे, उसे शान्ति से न रहने देंगे, अपनी हिंसात्मक प्रवृत्तियों, आक्रमण और लोलुपता से परिपूर्ण संस्थाएं और समाज निर्मित करते रहेंगे। आत्मकेन्द्रीयता के स्थान पर ईश्वर-केन्द्रीयता की स्थापना से शान्ति और जीवन-सौख्य की प्राप्ति होती है। भक्ति, चिन्तन और अनासक्ति द्वारा ईश्वर की प्रकृति को गहराई तक जाना जा सकता है। धर्म का मूल तत्त्व धार्मिक-सिद्धान्तों अथवा ऐतिहासिक घटनाओं की बौद्धिक स्वीकृति नहीं है। यह तो उस अनुभव की तैयारी मात्र है जो हमारी सम्पूर्ण सत्ता को प्रभावित करता है, हमारी अशान्ति, पीड़ा, हमारी भंगुर और निष्क्रान्त सत्ता की व्यर्थता की भावना का अन्त कर देता है। सेंट ऐम्ब्रोज़ का कथन है : "परम पिता परमात्मा अपने उपासकों की रक्षा तर्कशास्त्र द्वारा नहीं करना चाहते थे।" धर्म केवल सत्य-चिन्तन नहीं वरन् सत्य के लिए पीड़ित होना है। हमारा विश्वास है कि सत्य प्राप्त हो चुका है, मूर्तिमान है, उसके मानक निश्चित किये जा चुके हैं और अब मानव का केवल यही काम रह गया है कि निश्चित परिपूर्णता के अमूल्य गुणों को व्यक्त करें; किन्तु दुःख है कि इस विश्वास ने मानव-मन की धार्मिक विचारधारा को पंगु बना दिया है। यह तर्कसंगत आत्मतुष्टि का दृष्टिकोण धर्म का एक गुण नज़रअन्दाज़ कर देता है कि धर्म आध्यात्मिक 'ऐडवेंचर' भी है।

---

१. ऑलिवर क्रॉमवेल ने २ अप्रैल, १६५० को आयरलैंड से अपने पुत्र के नाम पत्र में लिखा था : "वास्तविक ज्ञान शाब्दिक या वैचारिक नहीं वरन् आन्तरिक है, और मस्तिष्क को अपने अनुसार ढाल लेता है।" देखिए जी. एम. ट्रेवेलयन कृत 'ऐन ऑटोबायोग्राफी ऐंड अदर एसेज़' (१६४६), पृष्ठ १७०।

२. 'इज़ेकील' XI. १६ और १६।

पूर्वीय धर्मों में, मानव-जीवन की सिद्धि एक अनुभव है जिसमें उसकी सत्ता का प्रत्येक स्तर उच्चतम तल तक पहुंच जाता है। हम अंधकार से प्रकाश में पहुंचते हैं। हम स्वयं को एक सार्वभौम उद्देश्य से जकड़ा हुआ पाते हैं। हमारी सत्ता सम्पूर्ण हो जाती है, हमारे अकेलेपन का अन्त हो जाता है। हम अपने चारों ओर के संसार के शिकार नहीं, बल्कि स्वामी बन जाते हैं। जिस क्षण किसी धार्मिक द्रष्टा को दृष्टि प्राप्त होती है और वह अपनी सत्ता की गहराई में पहुंचता है, उसी क्षण वह एक नये मार्ग पर चल पड़ता है। बुद्ध या ईसा हमें नया जीवन प्राप्त करने की प्रेरणा देने पर ही हमारे मुक्तिदाता अथवा रक्षक हो सकते हैं। उनके जीवन और उपदेश इस परिवर्तन के उदाहरण हैं; इन्हींका पालन करके हम अपने पहले जन्म और प्रकृतिप्रदत्त बंधनों को तोड़कर अपनी मौलिक असम्पूर्णता से ऊपर उठ सकते हैं। जब हमारी चेतनता सामान्य स्तर से ऊपर उठ जाती है, हम अज्ञेय को जानने लगते हैं और इतनी अधिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं कि जब आत्मा अपनी ही गहराइयों में अपने जीवन और सम्पूर्ण यथार्थ के आधार को प्राप्त कर लेती है उस समय के उसके आनन्दोन्माद को किसी भी भाषा में व्यक्त करना असंभव है।

परम सत्ता के प्रति यह जागृति, जिसकी चर्चा द्रष्टा करते हैं, अवर्णनीय है।[१] लुदविग विगेन्स्टाइन के शब्दों में इस अवर्णनीयता को प्रदर्शित तो किया जा सकता है, शब्दों में बांधा नहीं जा सकता।[२] इस विषय पर व्हाइटहेड का श्रेष्ठ कथन है : "शब्द-प्रशस्ति ज्ञानियों का स्वाभाविक गुण है। फिर भी माताएं अनेक बातें सोचती हैं जिन्हें वे कह नहीं पातीं। इस प्रकार यही अनेक ज्ञात बातें अन्तिम धार्मिक प्रमाण हैं, जिनसे परे कोई तर्क नहीं है।"[३] इस अनुभव को प्रतीकों में व्यक्त किया जाता है तो द्रष्टाओं के ज्ञान और विश्वासों के अनुसार प्रतीक अनेक प्रकार के हो जाते हैं। फिर भी हिन्दू, बौद्ध, ईसाई या सूफी अध्यात्मवादियों, सभी का मूल अनुभव एक ही है। स्वर्गीय डीन इंज का कथन है कि 'धर्म, समय और राष्ट्रीयता के बावजूद अध्यात्मवादियों के साक्ष्यों में आश्चर्यजनक सहमति है।'[४]

---

१. गेटे ने 'फ़ॉस्ट' में कहा है : "सामान्य लोगों, और विशेषतः पादरियों की ज़बान पर ईश्वर का नाम सदैव रहता है, इसलिए उनके लिए ईश्वर एक वाक्यांश-मात्र रह जाता है, केवल एक नाम जिसका उच्चारण करते समय कोई भी सम्बद्ध विचार उनके मस्तिष्क में नहीं आता। किन्तु यदि उनमें भी इस महानता का प्रवेश हो गया होता, तो वे मौन हो जाते, क्योंकि श्रद्धा के कारण ही वे उसका नाम लेने में असमर्थ हो जाएंगे।"

२. 'ट्रैक्टैटस लॉजिको—फ़िलॉसोफ़िकस' अंग्रेज़ी अनुवाद, ५६.५२२, पृष्ठ १८७।

३. 'रिलीजन इन द मेकिंग', पृष्ठ ६७।

४. द फ़िलासफ़ी ऑफ़ प्लॉटिनस', खंड २, पृष्ठ १४३।

प्रेषण के उद्देश्य से जब सम्पूर्ण अन्तर्दृष्टि अथवा सम्पूर्ण आत्मा के अनुभवों को बौद्धिक प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया जाता है, तो वे प्रतीक मात्र होते हैं। अनन्तता को पूर्णतः समय के पैमाने पर व्यक्त नहीं किया जा सकता, अस्तित्व की सचेतनता को सत्ता के पैमाने पर—अर्थात् समय-स्थान के प्रतीकों में—भली प्रकार व्यक्त नहीं किया जा सकता। फिर भी वे असम्बद्ध नहीं हैं। कुछ धार्मिक विचार गंभीरतम अन्तर्दृष्टि के परिणाम हैं। प्रतीकों और बिम्बों का उपयोग ईश्वरोपासना के लिए सहायकों के रूप में किया जाता है, वे स्वयं उपासना की वस्तुएं नहीं हैं।

धार्मिक सिद्धान्तों के निरूपण का अर्थ है आत्मा के अस्तित्व को किसी वस्तु में परिवर्तित करना। जो कुछ हमारे अस्तित्व को ग्रहण किये हुए था उसे हम एक वस्तु में परिवर्तित कर देते हैं जिसे हम स्वयं ग्रहण करते हैं। कुल अनुभव ज्ञान का एक भाग बन जाता है। ईश्वर के बारे में मानव की धारणाएं स्वयं ईश्वर नहीं हैं। ईश्वर के बारे में धार्मिक सिद्धान्तों का परीक्षण धर्म के ही तथ्यों अथवा अनुभवों द्वारा होता है। उन सिद्धान्तों को अन्तिम और सार्वभौमिक नहीं समझना चाहिए।

ब्रह्म कर्ता और कर्म के भेद से परे है, क्योंकि विधि विश्वव्यापी कृतित्व को आलोकित करता, स्थिर रखता और आत्मसात् करता है। जिस संसार का अध्ययन विज्ञान करता है वह आत्मा का ही प्रकाशन है। सम्पूर्ण प्रकृति और जीवन ब्रह्ममय है।

'संसार ईश्वर की इच्छा का परिणाम है' कहने का अर्थ यह नहीं है कि उसकी इच्छा चपल है। इससे केवल यही आभास होता है कि ब्रह्मांड की सम्भावनाएं निस्सीम और अज्ञेय हैं। इसका अर्थ यह भी है कि सृष्टि का स्वभाव परम नहीं बन सकता। ऐसा संभव होता तो सापेक्ष ही परम हो जाता। चूंकि मानव ईश्वर के समान हैं और उसकी ही प्रतिकृतियां हैं—वरना उनका अस्तित्व ही न रहता—इसलिए संसार ईश्वर की छवि है। चूंकि मानव ईश्वर से भिन्न है, इसलिए संसार भी ईश्वर से भिन्न है।

सभी धर्म पड़ौसी से प्रेम करने का उपदेश देते हैं, किन्तु प्रेम करने की क्षमता पा सकना कठिन काम है। आध्यात्मिक जीवन का विकास ही वह बल है जो पड़ौसी को प्रेम करने की क्षमता प्रदान कर सकता है, फिर चाहे हम स्वभावतः वैसा न करना चाहें। 'एपिसिल ऑफ़ सेंट जेम्स' में कहा गया है, "तुम्हारे बीच युद्ध और झगड़े कहां से आते हैं? तुम चाहो भी तो तुम्हारे ये युद्ध यहां से नहीं आते।" मानवों की परस्पर-विरोधी आकांक्षाओं से ही मानवों में तनातनी और संघर्षों का जन्म होता है। हमें अपने भीतर अनुरूपता रखना आवश्यक है। सेंट टेरेसा के शब्दों में गंभीर अर्थ है, "इस पृथ्वी पर तुम्हारे शरीर के अतिरिक्त ईसा का

और कोई शरीर नहीं है; तुम्हारे ही पांव हैं जिनके बल चलकर वे भलाई करते रहते हैं; तुम्हारे ही हाथ हैं जिनसे वे आशीर्वाद देते हैं।" अठारहवीं शताब्दी के महान अध्यात्मवादी विलियम लॉ ने कहा था : "प्रेम से मेरा मतलब उस स्वाभाविक कोमलता से नहीं है, जो प्रत्येक व्यक्ति में उसकी शरीर-रचना के अनुसार कम या अधिक मात्रा में उपस्थित है; इससे मेरा अर्थ है विवेक और धर्मनिष्ठा पर आधारित आत्मा का एक अधिक व्यापक सिद्धान्त, जिससे हम प्रत्येक प्राणी को ईश्वर-द्वारा निर्मित प्राणी मानते हैं और उसके प्रति कोमल, दयालु और उदार हो जाते हैं, और ऐसा हम ईश्वर के लिए ही करते हैं।"[1] धार्मिक असहिष्णुता के कारण इस दुनिया ने बड़े दुःख उठाये हैं और रक्त बहाया है। हमारे समय की राजनीतिक असहिष्णुता ने भी—जो किसी भी धार्मिक संघर्ष के समान क्रूर, विश्वव्यापी और तीखी है—धार्मिक जामा ओढ़ लिया है, जो मध्ययुग के धर्मयुद्धों की याद दिलाता है। धर्म के नाम पर ईसाई सेनाओं ने पूर्व पर आक्रमण किया था। किन्तु गंभीर धार्मिक आस्था भी उन्मत्त असहिष्णुता से रक्षा नहीं कर सकती। धर्मयोद्धाओं का विचार था कि वे मुसलमानों के खुदा के विरुद्ध और ईसाइयों के ईश्वर के पक्ष में लड़ रहे थे। वे इस विचार को संभव ही नहीं समझते थे कि मुसलमानों का खुदा वही ईश्वर हो सकता है जिसपर उनकी अपनी आस्था है।[2] अक्सर लोग सोचते हैं कि अपने धर्म के प्रति वफादार रहकर वे व्यक्तिगत रूप से कुछ भी करने को स्वतंत्र हैं। हमारी महत्त्वाकांक्षाएं बढ़ जाती हैं, अपने लिए

---

१. यत्र क्वापि स्थितो धर्मे सदाचारपरो यदि।
यायादवश्यं कल्याणमिति दृष्टिः सुदर्शनम्॥

किसी भी धर्मानुयायी की प्रवृत्ति यदि सदाचार के प्रति होती है, तो वह प्रसन्नता की प्राप्ति में निश्चय ही सफल होता है। यही दृष्टिकोण ठीक है।—सुबोध वाणी-प्रकाश' (१९३८), पृष्ठ २५।

२. धर्मयुद्धों के इतिहासकार श्री स्टीवेन रंसीमान अपने विवरण को इन अर्थपूर्ण शब्दों से समाप्त करते हैं, समसामयिक विश्वस्थिति के संदर्भ से जिनका पूर्ण सामंजस्य है : "पूर्व और पश्चिम के पारस्परिक सम्बन्धों और संयोग की लम्बी परम्परा में, जिससे हमारी सभ्यता का उद्भव हुआ है, ईसाई धर्मयुद्ध एक दुःखद और विनाशकारी घटना थी। गत शताब्दियों पर दृष्टिपात करते हुए इतिहासकार को यह देखकर प्रसन्नता के साथ-साथ दुःख भी होता है कि मानव-प्रकृति कितनी सीमित है। कितना अधिक साहस था किन्तु कितनी कम प्रतिष्ठा; कितनी अधिक धर्मनिष्ठा थी किन्तु कितना कम ज्ञान। स्वयं को सर्वाधिक धर्मनिष्ठ मानने की अंधी और संकीर्ण भावना की क्रूरता, लोभ, दुस्साहस और उत्साह ने उच्चादर्शों को दूषित कर दिया था; स्वयं 'पवित्र युद्ध' ईश्वर के नाम पर एक लम्बे असहिष्णु कार्य से अधिक कुछ न था, और यही उस 'पवित्रात्मा' के विरुद्ध पापकर्म था।"—'ए हिस्ट्री ऑफ़ द क्रूसेड्स', खण्ड ३ (१९५४), पृष्ठ ४८०।

नहीं, बल्कि अपनी धार्मिक संस्थाओं के लिए। इस प्रक्रिया को विलियम लॉ ने 'आत्म को त्यागे बिना ईश्वर की ओर भागना' कहा है। हृदय की सारी लालसाएं और पक्षपात ज्यों के त्यों बने रहते हैं और किसी तथाकथित धार्मिक उद्देश्य से जुड़ जाते हैं। "दर्प, आत्म-प्रशस्ति, घृणा और अत्याचार अनेक कार्यों को धार्मिक जोश का बाना पहनाकर पवित्र बना देते हैं, प्रकृति स्वयं जिन्हें लज्जास्पद समझती है।" ईश्वरभक्ति के नाम पर हम आगज़नी और अत्याचार को भी तैयार रहते हैं। लगता है कि मानवता किसी सामूहिक पापकर्म की दास हो गई है और कुकृत्य करती चली जा रही है। लगता है कि कोई दैत्य मानवता पर, मनुष्य और उसकी परिस्थितियों पर, हावी हो गया है। और ईमानदार आदमियों के समस्त सत्प्रयासों और सदिच्छाओं का उपयोग दुष्कर्मों में करता चला जा रहा है। यदि प्रेम ही ईश्वर है[1], तो ईश्वर ईर्षालु नहीं हो सकता। यदि ईश्वर के प्रकाश से ही प्रत्येक मानव आलोकित होता है[2] और ईश्वर ने अपनी सत्ता का प्रमाण भी प्रस्तुत किया है[3] तो हमारे धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के अनुयायियों को भी ईश्वर का प्रेम प्राप्त है। ईश्वर के रहस्य को जानने के अनेक रास्ते हैं।

गंभीरतापूर्वक विचार करें तो धर्म अपने मौन और वाचालता में समान है। एक ही आधार पर विभिन्न धार्मिक परम्पराएं स्थित हैं। इस सामान्य आधार का स्रोत इतिहास से परे है, शाश्वत है, इसलिए इसपर सबका समान अधिकार है। विभिन्न धर्मों के द्रष्टाओं के अनुभवों में समान तत्त्व मिलते हैं। विभिन्न झंडों के नीचे हम एक ही लक्ष्य तक पहुंचना चाहते हैं। फार्मूलों की सीमाओं और नियमों के प्रतिबंधों को पार करने के बाद सभी को समान आध्यात्मिक जीवन प्राप्त होता है। इतिहास के अध्ययन द्वारा प्रमाणित आधारभूत सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता ही भविष्य की आशा है। इससे फिर उसी गंभीर सत्य पर प्रकाश पड़ता है जिस-पर पूर्वीय धर्मों ने सदैव ज़ोर दिया है—धर्मों की प्रत्यक्ष अनेकता में एक प्रच्छन्न एकता है।

ईसाई संसार में भी अनेक ऐसे गंभीर विचारक हुए हैं जो आध्यात्मिक अनन्यता पर विश्वास नहीं करते थे। कूसा के निकोलस गैर-ईसाई धर्मों में भी सत्य के तत्त्व मानते थे। वे 'कॉयन्सीडेन्शिया ऑपोज़िटोरम'—अर्थात् प्रत्येक वस्तु दो विरोधी दलों के कटाव-बिन्दु पर स्थित है, और इसी कारण ज़ीवित तथा प्रभावशाली है—पर विश्वास करते थे। ईश्वर सर्वव्यापी अनन्त है और लघुतम

१. 'प्रथम जॉन', IV, १६।
२. 'जॉन', I, ९।
३. 'ऐक्ट्स', XIV. १७।

वस्तुओं में भी व्याप्त है।[१] प्रोफेसर आर्नल्ड जे. टॉयनबी[२] ने लिखा है: "मेरा विश्वास है कि मेरे जीवन-काल के चार उच्चतर धर्म वास्तव में एक ही 'थीम' के चार रूप हैं, और यदि इस स्वर्गिक संगीत के चारों प्रकार एकसाथ, समान स्पष्टता से, पृथ्वी पर एक मानव को सुनाई पड़ें तो श्रोता प्रसन्न होगा कि उसे कर्कश ध्वनियां नहीं, मधुर संगीत सुनाई पड़ रहा है।" वे विश्वास नहीं करते कि कोई एक धर्म ही आध्यात्मिक सत्य का अनन्य और सुनिश्चित उद्‌घाटन है। दूसरे धर्मों को यह कहकर अस्वीकार करना कि हो सकता है 'ईश्वर ने उन्हें भी स्वीकार किया हो और वे भी कुछ मानवीय आत्माओं के समक्ष ईश्वर के रहस्य का उद्‌घाटन करते हों, मेरी दृष्टि में ईश्वरनिन्दा है।' उन्होंने साइमाकस का कथन उद्‌धृत किया है: "इतने महान अज्ञेय का ज्ञान एक ही रास्ते पर चलकर नहीं हो सकता"[3] आर्कबिशप विलियम टेम्पिल दूसरे शब्दों में यही बात कहते हैं: "गैर-ईसाई विचार या आचार या आराधना की प्रणालियों में जो कुछ भी आदर्श है, वह सब उनपर और उनके भीतर ईसा का प्रभाव है। ईश्वरीय ज्ञान—अर्थात् ईसा-

१. ईरान के बादशाह साइरस ने बैबीलोनिया को, जिसके अधिकार में जूडिया था, पराजित करने के पश्चात् यरुशलम तथा उसके मन्दिर के पुनर्निर्माण के लिए यहूदियों को हर समय सहायता दी थी। सन् १५५७ में, हंगरी के शासक 'टॉर्डा के डायट' प्रिंस सिगिसमंड ने एक घोषणा की थी कि 'प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार धर्म और आस्था का पालन करने और अपने धर्म के उपदेशकों का पक्ष लेने की स्वतंत्रता है किन्तु किसी भी धर्मानुयायी को आज्ञा नहीं है कि वह दूसरे धर्मावलम्बियों की उपासना में बाधा डाले या उन्हें हानि या शारीरिक आघात पहुंचाये।'—'हिबर्ट जर्नल', जनवरी १९५४, पृष्ठ १५७ पर उद्‌धृत।

२. 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री', खंड २, (१९५४), पृष्ठ ४२८।

३. प्रोफेसर टॉयनबी अपनी स्थिति को साफ शब्दों में व्यक्त करते हैं। हमारे आध्यात्मिक संघर्ष में, वे कहते हैं: "मेरा अनुमान है कि पश्चिम तथा सम्पूर्ण संसार मानव से दूर हटते जा रहे हैं—विचारधाराओं, साम्यवाद और धर्मनिरपेक्ष व्यक्तिवाद, के उपासक बनते जा रहे हैं—और एक पूर्वीय धर्म के अनुयायी बनते जा रहे हैं जिसका उद्‌भव न रूस में हुआ है, न पश्चिम में। मेरा अनुमान है कि यह ईसाई-धर्म होगा, जो फिलिस्तीन से यूनान और रोम पहुँचा था; अन्तर इतना होगा कि पारम्परिक ईसाई-धर्म के एक-दो तत्त्वों का स्थान भारत का एक नया तत्त्व ले लेगा। मेरी आकांक्षा है और मैं आशा करता हूं कि ईसाई धर्म के इस अवतार में ईश्वर को प्रेम का आगार भी माना जाएगा। किन्तु मेरी यह भी आकांक्षा है और मैं आशा भी करता हूं कि इसमें ईश्वर को 'ईर्षालु ईश्वर' माननेवाली ईसाई परम्परा नहीं रहेगी और इस 'ईर्षालु ईश्वर' की आत्म-प्रशंसा कि उसके 'चुने हुए व्यक्ति' अद्वितीय हैं, को भी स्थान नहीं दिया जायेगा। यहीं भारत की आवश्यकता है। जिसका विश्वास (ईश्वर को प्रेम की संज्ञा देने का परिपूरक) है कि ब्रह्मांड का रहस्योद्‌घाटन करने के एक नहीं अनेक ज्ञानमय और संरक्षण करने वाले ढंग हो सकते हैं।"—'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' (१६ अप्रैल, १९५४) पृष्ठ २४९।

मसीह—के बल पर ही इसायह प्लेटो, ज़रथूस्त्र, बुद्ध और कन्फ़्यूशियस अपने घोषित सत्यों को समझ और कह सके थे। केवल एक ईश्वरीय प्रकाश है, अपनी सीमा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति उससे आलोकित होता है। फिर भी प्रत्येक को उस प्रकाश की कुछ किरणें ही प्राप्त होती हैं और सम्पूर्ण प्रकाश के आलोकन के लिए सम्पूर्ण मानवीय परम्पराओं के सम्पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता होगी।"[1]

ईसाईधर्म का इतिहास बताता है कि अपने चरमोत्कर्ष के समय में उसमें आदान-प्रदान की प्रवृत्ति थी। वह हमेशा अलग बातों को महत्त्व देता और अपनी रूढ़ियों को त्यागता भी रहा है। रोमक साम्राज्य को दीक्षित करने के बाद उसने स्वयं को तत्कालीन अवस्थाओं के अनुसार बदल लिया; इससे पूर्व रोमक साम्राज्य अपनी पृथक् सांस्कृतिक परम्पराओं और सामाजिक संस्थाओंवाला बर्बर समाज था। मध्ययुगीन कैथलिक विश्वास, कि चर्च के बिना मुक्ति संभव नहीं है, अब नहीं रह गया। मैं सोचता हूं कि लातेरां चतुर्थ के साफ-साफ फैसले 'द फ़िदे कैथोलिका' को माननेवाले अधिक लोग होंगे। फैसला है: "धार्मिक आस्थावानों का केवल एक सार्वभौम चर्च है, जिससे बाहर किसीकी मुक्ति नहीं है।" इस परिवर्तनशील संसार में रूढ़ियां भी बदल जाती हैं। उदाहरणतः मध्ययुगीन सिद्धान्त कि जिन बच्चों का बपतिस्मा न किया गया वे अनन्तकाल तक नरक-वासी रहेंगे। ऑगस्टीन के शब्द हैं: "अच्छी तरह इस बात को समझ लो। समझ-दार आदमियों के अतिरिक्त बिना बपतिस्मा के यदि कोई नासमझ बच्चा भी इस संसार से चला गया तो उसे सदैव नरक की अग्नि में जलने का दण्ड मिलेगा।" कैथलिक 'एन्साइक्लोपीडिया' के अनुसार, ११०० ईसवी में भी, 'सेंट अन्सेल्म भी सेंट ऑगस्टीन के साथ पूर्णतया सहमत थे कि बिना बपतिस्मा के बच्चों को पापियों के समान यन्त्रणाएं सहनी पड़ती हैं।' 'काउन्सिल ऑफ़ ट्रेण्ट' की अधिकृत प्रश्नोत्तरी (१५६६) में कहा गया है कि बिना बपतिस्मा के बच्चों का जन्म 'अनन्त यन्त्रणा और नरकवास के लिए होता है।' आज़ कैथलिक लोग इस सिद्धान्त को नहीं मानते।

हमें किसी वस्तुपरक, सार्वभौम सिद्धान्त की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। सबके एक प्रकार से सोचने का मतलब है कोई नहीं सोचता। विश्व-समाज में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता है कि वह अपने अनुसार ईश्वर को समझे, और ऐति-हासिक तथ्य तो स्वतन्त्रतापूर्वक घटनाओं के अनुसार विकसित होते ही जाएंगे। जिस प्रकार किसी 'सिम्फ़नी' के संगीत की जटिलता और मधुरता में प्रत्येक स्वर का योग होता है, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म का योग सम्पूर्ण की समृद्धि में होता है।

---

१. 'रीडिंग्स इन सेंट जॉन्स गॉस्पेल', प्रथम माला (१९३९)।

आज के संकटकाल में आवश्यक है कि समस्त विश्व की आध्यात्मिक शक्तियां आपस में मिल जायं और महान धार्मिक परम्पराएं अपनी रूपगत भिन्नताओं को भूलकर अपनी आधारभूत एकता समझें और उसीसे भौतिक पूर्वनिश्चयवाद का विरोध करने की शक्ति ग्रहण करें। जिस धर्म की रूपरेखा यहां प्रस्तुत है वह वैज्ञानिक, प्रयोगसिद्ध और मानवतावादी धर्म है। इसीसे मानव और उसकी आत्मा का पूर्ण विकास हो सकता है। मानव के प्रति मानव की अमानवीयता देखकर यह मौन नहीं रहेगा।

ईसाई धर्मानुयायी धर्मशास्त्रीय विरोधों में उलझकर रह गए और सामाजिक समस्याओं से उनका ध्यान हट गया; इसी कारण इस्लाम ने लोगों को आकर्षित किया। पुनः, धर्म की अपर-सांसारिक और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों की भर्त्सना के कारण साम्यवाद आज आकर्षण-केन्द्र है। सच्चे धर्मात्मा आज चल रही सामाजिक और मानवीय क्रान्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करके मानवता की श्रेष्ठतर व पूर्वतर जीवन की आकांक्षा के प्रदर्शक बनेंगे।

ईसा दूसरा आदम है, एक नई मानवजाति का प्रथम उत्पन्न पुरुष। ज्यों-ज्यों पृथ्वी पर आध्यात्मिक राज्य का प्रसार होता जायगा, ईसा प्रकृति और अतिप्रकृति में ऐक्य स्थापित कर सकेंगे—जिस प्रकार का ऐक्य आज विचारों और जन्तु-प्रकृति में स्थापित हो चुका है—और उससे भी आगे बढ़ जाएंगे, जिस प्रकार विवेकपूर्ण जीवन अपने से निम्नतर ऐन्द्रिक जीवन को पार कर जाता है। एक ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार स्वयं को और अपने संसार को पुनर्निर्मित करने का मानवीय प्रयत्न, उसकी असफलताओं को महानता और विशिष्टता प्रदान करता है। ईसाइयों की आशा है आध्यात्मिक व्यक्तित्व की एक नई जाति का सृजन, जिसके प्रथम सदस्य थे ईसा तथा अन्य सन्त। वे पृथ्वी पर सत्य के अगुआ हैं, आध्यात्मिक धर्म का प्रसार करनेवाले ईश्वरीय उपकरण हैं। सृजन की प्रक्रिया अब भी जारी है। यह समाप्त नहीं हो गई, समाप्ति की राह पर है।[1]

५. निष्कर्ष

हम सार्वभौम मानवतावादी नये युग के उषःकाल में हैं। आशा की उत्तेजना है, आकांक्षाओं की हलचल है; जैसा प्रातःकाल में, जब भोर की किरणें पृथ्वी को जगाती हैं, होता है। हम चाहें या न चाहें, रहते एक संसार में ही हैं[2] और हमें मानव

१. 'कोलोसियन्स', I.१८।

२. वे दिन बीत चुके हैं, जब सागर और पर्वत
मानवता को पागल होने से रोक लिया करते थे :

के उद्देश्य और भाग्य की समान धारणा अपनानी है। विभिन्न राष्ट्रों को मानव-जाति के सदस्यों के रूप में, शत्रु-इकाइयों के समान नहीं बल्कि सभ्यता को विकसित करने के प्रयास में संलग्न मित्र-भागीदारों के समान रहना चाहिए। शक्तिशाली राष्ट्र कमज़ोर की सहायता करेगा और सारे मानव स्वतंत्र राष्ट्रों के विश्वव्यापी संघटन के सदस्य होंगे। यदि हम गैरज़िम्मेदार व्यक्तियों के नियन्त्रण और अब तक अकल्पनीय शक्ति-स्रोतों के खतरे से बच गए तो हम सभी जातियों को एकत्र करके एक उदार, विशाल, सहयोगी समाज की स्थापना कर सकेंगे। हम समझ लेंगे कि सभ्यता के विकास में किसी जाति या जाति-समूह का एकाधिकार नहीं रहा है। हम सभी राष्ट्रों की उपलब्धियों को मान्यता देंगे, उनके लिए प्रसन्न होंगे, और इस प्रकार सार्वभौम बन्धुत्व को प्रोत्साहन मिलेगा। विशेष रूप से धार्मिक मामलों में तो हमें दूसरे देशों और युगों के मनीषियों के महत्त्वपूर्ण योगदान को तो अवश्य समझना चाहिए।

युद्ध की अनुपस्थिति ही शान्ति नहीं है; यह एक सुदृढ़ बन्धुत्व-भावना का विकास है, अन्य लोगों के विचारों और मूल्यों को ईमानदारी से समझने का प्रयास है। मानव के आन्तरिक जीवन की महत्ता का ज्ञान बढ़ता है तो भौतिक गुणों के अन्तर का महत्त्व कम हो जाता है। हमें पूर्व और पश्चिम के अतिसमीपी संसर्ग की ही नहीं अतिसमीपी ऐक्य की, विचारों के मिलन की, भावनाओं के संयोग की आवश्यकता है।

मानवता का उद्भव एक स्रोत से है, जहां से इसके अनेक आकार हो गये हैं। अब वह टूटे हुए को जोड़ने के लिए प्रयत्नशील है। पूर्व और पश्चिम का अलगाव समाप्त हो चुका है। नई दुनिया का, एक दुनिया का, इतिहास प्रारम्भ हो गया है। आशा है कि यह इतिहास व्यापक, बहुरंगी और दुर्लभगुणयुक्त होगा।

जब, यद्यपि नीरो मूर्खताएं कर रहा था,
पीकिङ् में अपार बुद्धिमत्ता का साम्राज्य था;
और, यद्यपि जेनेवा में कैल्विन ईश्वर की कृपा के बारे में उपदेश देते थे,
बुद्ध के मुख पर ईश्वर की स्वागतमय मुस्कान थी।
कारण, हमारी परस्परसम्बद्ध दुनिया इतनी छोटी हो गई है
कि इसमें मौजूद एक हिटलर का अर्थ है सबका पागलपन।
सारे संसार में चिन्ता का साम्राज्य है
और इंग्लैंड तथा इपोह दोनों को युद्ध का भय है।

—मार्टिन स्किनर : 'लेटर्स टु मलय' प्रथम और द्वितीय, १९४१, पृष्ठ ३४, ३५।

भारत में विज्ञान

विज्ञान का सामान्य अर्थ समझा जाता है 'पश्चिमी विज्ञान' जिसने अनेक अद्भुत आविष्कारों और टेक्नॉलॉजिकल यंत्रों को जन्म दिया है। किन्तु आधार-भूत वैज्ञानिक सिद्धान्त और तकनीक प्राचीन काल में भी मौजूद थे और विज्ञान के विकास में पूर्व का महत्त्वपूर्ण योग है। सभ्यता की अनेक निधियां पूर्व से मिली हैं। उदाहरणतः, वर्णमाला का आविष्कार सीरिया और फिलिस्तीन (अर्थात् पूर्व) में हुआ था, और वहीं से वह यूनान और अट्रूरिया होकर रोम और पश्चिमी संसार में पहुंची।

भारत के प्रारंभिक विज्ञान की दो प्रमुख धाराएं थीं—प्रथम, गणित और खगोल तथा द्वितीय, औषध विज्ञान। आपस्तम्बकृत 'सल्वसूत्र' में पाइथागोरस के प्रमेयों तथा कई अन्य विशिष्ट प्रश्नों का सामान्य विवरण है।" 'सल्वसूत्र' का प्रणयन पाइथागोरस के बाद के समय में हुआ था, किन्तु उसके विशिष्ट सूत्र निश्चय ही यूनानी नहीं, भारतीय हैं। वे प्राचीन प्रयोगसिद्ध अंकीय आविष्कार हैं जिनके आधार पर बाद में ज्यामितीय प्रमेय बने या प्रमेय के आधार पर विकसित विशिष्ट हिन्दू प्रयोग हैं, यह इतना स्पष्ट नहीं है। संक्षेप में इतना कहना ही काफी है कि हमारे यहां गणित में हिन्दुओं की महत्त्वपूर्ण मौलिक उपलब्धियां हैं।"[१] स्थानिक अंकों का महत्त्वपूर्ण आविष्कार तथा 'शून्य' के लिए संकेत हिन्दू-योगदान हैं।[२]

खगोलशास्त्र में हमारे यहां पांच सिद्धान्त, पैतामह वसिष्ठ, सूर्य, पौलिष और रोमक हैं। अन्तिम में, सीधा यूनानी प्रभाव स्पष्ट है। परम्परा अटूट रही है—आर्यभट्ट (पांचवीं शताब्दी ईसवी), वराहमिहिर (छठवीं शताब्दी), ब्रह्म-

---

१. ए. एल. क्रोयबर : 'कन्फ़िगुरेशन्स ऑफ़ कल्चरल ग्रोथ (१९४४), पृष्ठ १८० ।

२. भारत के बाहर, हिन्दू-अंकों का पहला संकेत सेवेरस सेबोख्त की एक कृति में मिलता है। यूनानी और सीरियाई ज्ञान की तुलना करते हुए उन्होंने ६६२ ईसवी में लिखा : "मैं हिन्दुओं के विज्ञान, गणना के अनेक महत्त्वपूर्ण ढंग और उनकी वर्णनातीत लेखा-पद्धति की बात इस समय नहीं करना चाहता। मैं तो इतना कहना चाहता हूं कि यह गणना नौ संकेतों की मदद से की जाती है।" एस. एफ. मेसन : 'ए हिस्ट्री ऑफ़ साइन्सेज़' (१९५३), पृष्ठ ६७।

गुप्त (छठवीं और सातवीं शताब्दी), महावीर (नवीं शताब्दी), श्रीधर (दसवीं शताब्दी), भास्कर (बारहवीं शताब्दी)।

औषधविज्ञान का उदय बहुत पहले हुआ। बुद्ध के युग में, आत्रेय तक्षशिला में अध्यापक थे और उनसे अपेक्षाकृत कमउम्र समकालीन सुश्रुत काशी (अथवा बनारस) में शिक्षक थे। बाद के विज्ञानियों ने शल्यचिकित्सा पर ज़ोर दिया—अण्डकोष में आंत उतरने, पेड़ू चीरकर बच्चा पैदा करने, मूत्राशय की पथरी, मोतियाबिन्द की शल्यचिकित्साएं प्रचलित हुईं। शल्यक्रिया के १२१ भिन्न औज़ारों का वर्णन मिलता है। मलेरिया और मच्छरों का सम्बन्ध मालूम किया जा चुका था और मधुमेह के रोगियों के मूत्र में शर्करा की उपस्थिति मालूम थी। कश्मीर में जनमे और कनिष्क के समय में जीवित (१२०–१६२ ईसवी) चरक ने आत्रेय के एक शिष्य अग्निवेष के आधार पर एक ग्रंथ की रचना की। वाग्भट्ट, (पिता और पुत्र) तथा माधवकर व वृन्द इस क्षेत्र के अन्य व्यक्ति थे।

दिल्ली का लौह-स्तुभ लगभग ४०० ईसवी में खड़ा किया गया था। इसकी ऊंचाई २८ फुट से अधिक है। तथा आधार का व्यास १६.४ इंच है जो कम होते-होते १२.०४ इंच हो जाता है। यह विशुद्ध, मोर्चा न खानेवाले लोहे का बना है। इसे वे कैसे बना सके? सुल्तानगंज की बुद्ध की मूर्ति विशुद्ध तांबे की दो परतों से बनी है जो ७॥ फुट ऊंचे और एक टन भारी एक अन्तर्भाग पर मढ़ी गई है। ये इंजीनियरिंग के कौशल के आश्चर्यजनक नमूने हैं।

संस्कृत व्याकरण का विकास ग्रीक व्याकरण से पहले हुआ था। यास्क ने वेदों की व्युत्पत्तिविषयक टीका 'निरुक्त' लिखी। यह पाणिनि-काल से पहले, ५००–७०० ईसापूर्व के आसपास की है। भाषाविज्ञान और व्याकरण में पाणिनि का नाम सर्वोपरि है। वे छठवीं सदी ईसापूर्व के उत्तरार्ध में हुए थे। पाणिनि ने यास्क और शौनक को अपना अग्रज माना है। उनकी 'अष्टाध्यायी' एक दीर्घकालीन भाषाविज्ञानी विकास का शीर्षविन्दु है। पाणिनि ने नियमों को स्वीकार और अपवादों को व्यक्त किया है। उनकी अष्टाध्यायी में लगभग ४००० सूत्र हैं। केवल एक लेखक अकस्मात् इनका आविष्कार करके दूसरों पर लाद नहीं सकता था। यह शताब्दियों की वृद्धि है और पाणिनि परम्परागत व्याकरण को अन्तिम संस्कार प्रदान करनेवाले वैयाकरण थे और उनकी कृति में अनेक अग्रजों के नाम हैं। अपनी शुद्धता और विस्तार के कारण ही वे अपने अग्रजों से आगे बढ़ गये।

पतंजलि के अनुसार, पाणिनि की कृति भली प्रकार सम्पादित एक महान ग्रन्थ है।[1] कात्यायन ने अपनी टिप्पणियों 'वार्त्तिक' का प्रणयन पाणिनि के सूत्रों

१. पाणिनीयं महत् सुविहितम् ४.२.६६; २.२८५। उन्हें अत्यधिक प्रामाणिक गुरु माना

के तुरन्त बाद किया था और उनकी व्याख्या पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' (दूसरी शताब्दी ईसापूर्व) में की थी। भाषाविज्ञान का सम्पूर्ण विकास ६००–१००० ईसापूर्व में हुआ था। डॉक्टर क्रोयबर का कथन है : "भाषाविज्ञान जैसे कठिन और आत्मकेन्द्रित विषय का इतने प्राचीन काल में इतना अधिक विकास सदा विस्मयजनक रहेगा। इससे यही मालूम होता है कि अत्यधिक प्राचीन भारत के बारे में हमारा ऐतिहासिक ज्ञान असम्पूर्ण है—इस महान काल की आंशिक झांकी हमें केवल पुरातत्त्व से मिल सकती है।"[1]

भाषाविज्ञान के उत्तरकालीन विकास में 'कातंत्र' के रचयिता सर्ववर्मन (३०० ईसवी), चन्द्रगोमिन (६०० ईसवी), 'वाक्यपदीय' के रचयिता भर्तृहरि (सातवीं शताब्दी ईसवी) के नाम शीर्षस्थ हैं। 'वाक्यपदाय' में भाषाविज्ञान या व्याकरण से अधिक जोर भाषा के दर्शन पर दिया गया है। जयादित्य और वामन ने पाणिनि पर एक पाठ्यपुस्तक 'काशिकावृत्ति' की रचना की। १६२५ के लगभग भट्टोजि दीक्षित ने 'सिद्धान्तकौमुदी' का प्रकाशन किया; यह पाणिनि के ग्रन्थ का सार-संक्षेप है।

"संस्कृत के वैयाकरणों ने सर्वप्रथम शब्द-रूपों का विश्लेषण किया, धातु और प्रत्यय का अन्तर समझा, प्रत्यय के कार्य निश्चित किये, और कुल मिलाकर इतनी अधिक शुद्ध और सम्पूर्ण व्याकरण का निर्माण किया कि उसका सानी किसी दूसरे देश में पाना असंभव है।"[2] प्रोफेसर वेबर का कथन है कि "पाणिनि के व्याकरण में भाषा की जड़ों तथा उसके शब्दों की रचना की खोज पूरी गहराई के साथ की गई है, इसलिए वह अन्य सभी देशों के व्याकरणों से श्रेष्ठ है।"[3]

हीगेल ने कहा था : "आकांक्षाओं की भूमि के रूप में भारत का सामान्य इतिहास में अनिवार्य स्थान है। अत्यधिक प्राचीन काल से आज तक सभी राष्ट्रों की आकांक्षा यह रही है कि वे इस आश्चर्यजनक देश की निधियों तक पहुंच सकें; संसार-भर की सबसे मूल्यवान निधियां, प्राकृतिक—मोती, हीरे, इत्र, गुलाबजल सिंह, हाथी आदि—तथा बौद्धिक निधियां सभी यहां उपस्थित हैं। ये निधियां जिस प्रकार पश्चिम में पहुंची हैं, वह सदा विश्वव्यापी ऐतिहासिक महत्त्व की बात रही है और राष्ट्रों का भविष्य इसके साथ जुड़ा रहा है।"

जाता है। प्रमाणभूत आचार्य १.१३९; १.३९।

१. 'कन्फिगुरेशन्स ऑफ़ कल्चरल ग्रोथ' (१९४४), पृष्ठ २१९।

२. मैकडॉनेल : 'इण्डियाज़ पास्ट', पृष्ठ १३६।

३. 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर', पृष्ठ २१६।

अनुक्रमणिका

० ० ०